विषयसूची—

प्रारम्भिक निवेदन

माननीय महोदय !

लगभग ३ वर्ष के अनन्तर 'शतपथ–विज्ञानभाष्य' (त्रैमासिक) सेवा में उपस्थित हो रहा है। जैसाकि, 'शतपथसूचनापत्र' में निवेदन कर दिया गया था—'शतपथ के प्रथमवर्ष का आरम्भ श्रावण पूर्णिमा, वि सं १९९९ से हुआ था। प्रथमवर्षीय उस प्रथम त्रैमासिक अङ्क के अनन्तर कार्तिक पूर्णिमा १९९ का क्रम प्राप्त प्रथमवर्षीय २ अङ्क प्रकाशित हुआ। अनन्तर कई एक समस्याओं के कारण यह प्रकाशन अवरुद्ध होगया'। अब परिगणित नवीन सहयोगियों की प्रेरणा से आश्विनशुक्ल पूर्णिमा वि० सं० २००१ से शतपथ का पुनः प्रकाशन आरम्भ हुआ है। वार्षिक-व्यवस्था की अनुरूपता के लिए प्रस्तुत अङ्क ४ वर्ष का ३ अङ्क मान लिया गया है। जो महानुभाव पूर्वप्रकाशित प्रथमवर्षीय दोनों (१, २) अङ्कों के साथ ग्राहक बनना चाहेंगे, उन्हें प्रस्तुत उन दोनों अङ्कों के साथ प्रस्तुत ४ वें वर्ष के २ अङ्क और प्राप्त हो सकेंगे। एवं जो प्रस्तुत अङ्क से ही ग्राहक बनेंगे, उन्हें इस अङ्क के साथ अगले तीन अङ्क प्राप्त हो सकेंगे। जैसा आदेश प्राप्त होगा, व्यवस्था हो जायगी। हमारी अपनी धारणा से ग्राहक बनने वालों को प्रथमवर्षीय दोनों पूर्व-अङ्क-भी मंगाने चाहिए, जिन का मूल्य ४) रु है। गत २ अङ्क, एवं प्रथमवर्षीय दोनों अङ्कों का वार्षिकशुल्क ७) है, डाकव्यय पृथक् है।

हमें विश्वास है अनुग्राहक महोदय अपना सहयोग प्रदान कर आर्षसंस्कृति के संरक्षण में प्रयत्नशील बनने का अनुग्रह करेंगे—

विनम्र—
मन्त्राध्यक्ष

शतपथ

खण्ड ४] जयपुर, आश्विनशुक्ल-पूर्णिमा २००३ [भाग ३

वेदसूक्तिसंस्मरणम्

'अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान् ।
वि यस्तस्तम्भ षडिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम् ॥"

—ऋक्संहिता १ मं० । १६४ सू० । ६ मन्त्र ।

"अचिकित्वान् (अहं), अत्र, चित्, चिकितुषः, कवीन्, विद्मन, पृच्छामि न, विद्वान् । यः षट् इमा (नि), रजांसि वि, तस्तम्भ, अजस्य रूपे, किम्, अपि, स्वित् एकम्" (इत्यन्वयः)

स्वयं इस विषय में कोई जानकारी न रखता हुआ (मैं) इस विषय में जानकारी रखने वाले (जानकारों) कवियों से (इसविषय में) जानकारी प्राप्त करने के लिए (प्रस्तुत स्थिति में) पूछ रहा हूं। (क्यों कि मैं स्वयं इस स्थिति का) ज्ञाता नहीं हूं। (प्रश्न मेरा यह है कि) जिस ने इन ६ रजों (लोकों) को (अपने नियन्त्रणपाश में आबद्ध कर यथास्थान) स्तब्ध कर रक्खा है, (उस) अज (अविनाशी तत्त्व) के स्वरूप के सम्बन्ध में (उसके उस) किसी (दुर्विज्ञेय) एक (भाव) को (ही मैं जानना चाहता हूं) । (इति मूलानुवादः)

ऊर्ध्वमूल अवाक्शाख सनातन अश्वत्थवृक्षमूर्त्ति, महामायावच्छिन्न मायी महेश्वर के इस स्वशरीररूप अश्वत्थवृक्ष की एक सहस्र (१०००) वल्शा (टहनियाँ) मानी गई हैं। प्रत्येक वल्शा एक एक स्वतन्त्र विश्व है, जिसका संचालक महेश्वर से सम्बद्ध रहता हुआ 'उपेश्वर' कहलाया है। उपेश्वर के शासन में अनुशासित प्रत्येक वल्शा में स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी, ये

पाँच पाँच पुण्डीर (पर्व—पोर) हैं। अतएव विश्वात्मिका यह एक संस्था (एक व्यष्टि) विज्ञानभाषा में —'पञ्चपुण्डीरा प्रजापतिसंस्था' नाम से व्यवहृत हुई है। पाँच पुण्डीरवाली इस संस्था में 'भूः, भुवः, स्वः, महः, महः, जनम्, तपः, सत्यम्' ये सात लोक हैं। सुप्रसिद्ध पृथिवी 'भूर्लोक' है। सूर्य्यात्मक खगोल 'स्वर्लोक' है, एवं पृथिवी और सूर्य्य के मध्य का चान्द्र अन्तरिक्ष 'भुवर्लोक' है। परमेष्ठीयुक्त आपोमयलोक 'जनलोक' है, एवं सूर्य्य और परमेष्ठी के मध्य का लोक 'महर्लोक' है। स्वयम्भू युक्त प्राणमय लोक 'सत्यलोक' है, एवं परमेष्ठी और स्वयम्भू के मध्य का लोक 'तपोलोक' है। जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है—

१—स्वयम्भू	(७)—सत्यम्	—स्वयम्भू (१)	
—नभस्वानसमुद्र	(६)—तपः		
३—परमेष्ठी	(५)—जनः	—परमेष्ठी (२)	
४—सरस्वानसमुद्र	(४)—महः		
५—सूर्य्य	(३)—स्वः	—सूर्य्याचन्द्रमसौ (३ ४)	
६—अर्णवसमुद्र	(२)—भुवः		
७—पृथिवी	(१)—भूः	—पृथिवी (५)	

उक्त सातों में भूः-भुवः-स्वः-महः-जनः-तपः, ये ६ लोक गतिशील होने से रजोभावात्मक हैं। अतएव इन्हें 'रजांसि' कहा जाता है। सातवाँ सत्य स्वयम्भू स्थितिभाव के कारण रजोधर्म्म से असंस्पृष्ट रहता हुआ 'परारजा' नाम से प्रसिद्ध है। इसी सातवें सत्यस्वयम्भूरूप परारजा प्रजापति के सूत्र-नियतिरूप पाश से ६ ओं रज सम्बद्ध हैं। वेदमन्त्र ने इसी परारजातत्त्व की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है, जिस की विशद वैज्ञानिक व्याख्या यथावसर की जायगी।

——— • ———

कहलाया है। प्रतिफलित इस गायत्र तेज में पार्थिव अग्नि, आन्तरिक्ष्य वायु, पार्थिव रसमात्रा, तीनों प्रतिष्ठित हो जाते हैं। अतएव कहा जासकता है कि, पार्थिवाग्नियुक्त वायुसंयोग से रश्मिरूप नाडीमार्गद्वारा पार्थिव जलमात्रा द्युलोक की ओर जा रही है। इसी दृष्टि से 'रश्मि' की अपेक्षया "आदित्याज्जायते वृष्टिः" कहा जासकता है। 'पार्थिवाग्न्यपेक्षया 'अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति' कहा जा सकता है। एवं आन्तरिक्ष्य वाय्वपेक्षया 'वायुर्वै वृष्ट्या ईशे' यह कहा जा सकता है। तीनों ही वचन तत्तदपेक्षया सुसमन्वित हैं। नाडी (रश्मि) अग्निप्राणयुक्त वायु से सम्बद्ध इसी वृष्टिविज्ञान का स्पष्टीकरण करते हुए हमारा *भौतिक विज्ञानशास्त्र कहता है—
"नाड्यो वायुसंयोगादारोहणम् (अपाम्)। नोदनापीडनात् संयुक्तसंयोगाच्च" (वैशेषिक दर्शन-५।२।५,६ सू०)।

'नाड्यो वायुसंयोगात्' आरोहित पार्थिव जल से सम्बन्ध रखने वाली वृष्टिक्रिया के गमन, स्थिति, वर्षण, ये तीन अधिकरण माने जा सकते हैं। यहाँ से पानी आकर वहाँ पहुँचा, यही पहिला गमन अधिकरण है, जिसे 'गर्भाधानकाल' कहा जासकता है। वहाँ पहुँच कर पानी नियत समय पर्य्यन्त द्युलोकस्थ वायुधरातल पर ठहर गया, यही दूसरा स्थित्यधिकरण है, जिसे 'दोहदकाल' कहा जासकता है। नियत समयानन्तर पानी पुनः बरस पड़ता है, यही तीसरा वर्षणाधिकरण है, जिसे 'प्रसवकाल' कहा जासकता है। इस प्रकार गर्भ, दोहद, प्रसव, भेद से यह वृष्टिकर्म्म त्रिपर्वा बन रहा है। पूर्वोक्ता ऋङ्मन्त्रत्रयी से वृष्टिकर्म्म के इन्हीं तीनों पर्वों का स्पष्टीकरण हुआ है, जिसके तात्त्विक समन्वय के लिये खगोल से सम्बन्ध रखने वाली कुछ एक [illegible]परिभाषाओं का स्पष्टीकरण अपेक्षित होगा।

सदा सर्वदा ही पार्थिवाग्नि-रश्मियाँ ऊपर की ओर जाती रहती हैं। वायु भी सदा ही प्रवाहित है। फलस्वरूप पार्थिवरस-मात्राओं का भी सदा ही ऊर्ध्वगमन सिद्ध है। और इसी दृष्टि से यह भी कहा जासकता है कि, जैसे जलमात्रा का गमन निरन्तर होता रहता है, एवमेव द्युलोक से उसका आगमन भी निरन्तर ही होता रहता है। इस नित्य गमनागमन लक्षण वृष्टियज्ञ से ही '[illegible]' नामक [illegible] का स्वरूप निर्माण हुआ है। प्रकृत में हमें विचार उस वृष्टि कर्म्म का करना है, जिस का

---

* भारतीय विज्ञान अधिदैवत, अध्यात्म, अधिभूत, भेद से तीन भागों में विभक्त माना गया है। [illegible], [illegible], [illegible] तीनों के क्रमशः तीनों विभागों का स्पष्टीकरण हुआ है, जैसाकि [illegible] द्वितीय खण्ड के 'आत्मपरीक्षा' नामक [illegible] भाग में विस्तार से वैज्ञानिक विवेचन हुआ है।

पद-ऋतुमूर्ति सम्वत्सर (वर्ष) के एक ऋतु विशेष (वर्षाऋतु) में भोग हुआ करता है। वर्षाऋतु में घुलोकस्थ मेघों से जो जल बरसता है, उसी के सम्बन्ध में यह जानना है कि, कब तो यह पानी भूपिण्ड से ऊपर गया ?, कहां प्रतिष्ठित हुआ ?, कबतक प्रतिष्ठित रहा ?, एवं कब बरस पड़ा ?। तात्पर्य्य यह है कि, इसमें सुप्रसिद्ध वर्षा ऋतु से सम्बन्ध रखने वाले वर्षाजल के ही गर्भ-दोहद-प्रसवभावों की मीमांसा अपेक्षित है।

चतुर्मासात्मक शीतकाल गर्भकाल, चतुर्मास्यात्मक ग्रीष्मकाल दोहदकाल, एवं चतुर्म्मासात्मक वर्षाकाल प्रसवकाल माना गया है। मार्गशीर्ष से आरम्भ कर फाल्गुन पर्य्यन्त पार्थिव जलमात्रा का घुलोक में गर्भाधान होता है। चैत्र से आरम्भ कर आषाढ़ पर्य्यन्त गर्भ का पोषण होता है, एवं श्रावण से आरम्भ कर कार्त्तिक पर्य्यन्त वर्षा की प्रसूति होती है। सगोत्रीय अपरोहिणी, अलक्ष्मी निर्ऋति, आदि नामों से प्रसिद्ध, वृश्चिकराशि में मुक्त 'ज्येष्ठा' नक्षत्र मार्गशीर्ष की अमावास्या से सम्बद्ध है। ज्येष्ठानक्षत्रानुगता मार्गशीर्ष-कृष्णामावास्या ही गर्भकाल का उपक्रम माना गया है। एवमेव ज्येष्ठमास की पूर्णिमा के साथ भी ज्येष्ठा-नक्षत्र का सम्बन्ध है। यही पूर्णिमा प्रसवकाल का उपक्रम माना गया है। इस सम्बन्ध में वृष्टिविद्या-चार्य्यों के जो परीक्षण हुए हैं, मात्रिक स्थिति के तारतम्य से वे सभी प्रामाणिक हैं। मूल नक्षत्र के उत्तरार्द्ध में जब सूर्य्य का भोग होता है, तो गर्भकाल आरम्भ होता है। एवं आर्द्रानक्षत्रभुक्त सूर्य्य प्रसवकाल का उपक्रम बनता है। सूर्य्य की मूलनक्षत्रभुक्ति पौष मास में, एवं आर्द्रानक्षत्रभुक्ति आषाढ़ मास में होता है। इस दृष्टिकोण से पौष गर्भ का आषाढ़ प्रसव का उपक्रम बन जाता है। एक अन्य दृष्टिकोण के अनुसार सूर्य्यदक्षिणायनानुगत पात गर्भ का एवं सूर्य्योत्तरायणानुगत पात प्रसव का उपक्रम है। मूल, पूर्वाषाढ़, उत्तराषाढ़, अभिजित्, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषक्, पूर्वभाद्रपद, उत्तरभाद्रपद, रेवती अश्विनी, भरणी ये १२ नक्षत्र आग्नेय सोम के सहयोगी बनते हुए गर्भ के उत्तेजक बनते हैं। आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, आश्लेषा, मघा पूर्वफल्गुनी उत्तरफल्गुनी, हस्त, चित्रा, स्वाती, विशाखा, ये ११ नक्षत्र सौर अग्नि के सहयोगी बनते हुए प्रसव के प्रवर्त्तक बनते हैं। चन्द्रचार जहां गर्भ की मूलप्रतिष्ठा है वहां सूर्य्यचार प्रसव की मूलप्रतिष्ठा माना गया है। स्नेहगुणक सङ्कोचधर्म्मा चान्द्रसोम पार्थिव जलमात्रा का वहां संवरण कर उसे स्थितिभाव प्रदान करता है, वहां तेजोगुणक विकासधर्म्मा सौर अग्नि जलमात्रा का द्रुत बनाता है। निम्न लिखित आप्तवचन इसी सिद्धान्त का स्पष्टीकरण कर रहा है—

पौषे मूलमरम्यन्तं चन्द्रधारण गर्भेति ।
आर्द्रादितो विशाखान्तं सूर्यधारेण वर्षति ।
—श्रीगुरुप्रणीत कादम्बिनी (वृष्टिविद्या)

नियत माघादिक काल में भूप्रदेश से जिस दिन जलमात्रा सूर्यरश्मि, वायु, अग्नि, के संयोग से उत्क्रान्त होती है, उस दिन से आरम्भ कर ठीक 6 महीना 15 दिन (कुल 195 दिन) पर्य्यन्त वह जलमात्रा द्युलोक में प्रतिष्ठित रहती है। ठीक 196 वें दिन उस का प्रसव होजाता है, पानी बरस पड़ता है। अतएव इस 195 दिनात्मक गर्भस्थितिकाल के लिए 'सप्तार्द्धगर्भा' कहा जासकता है। सातवें महीने का आधा, अर्थात् 15 दिन, और पूरे 6 मास, कुल 196 दिन, सप्तार्द्धगर्भा का यही निष्कर्ष है। इस सम्बन्ध में कुछ विशेषधर्म्म और जान लेने चाहिए। जिस दिन गर्भाधान होता है, उस दिन यदि पूर्वदिशा में गर्भाधान है, तो 196 वें दिन पश्चिम दिशा से मेघ वृष्टि करते हैं। यदि पश्चिम में गर्भाधान होगा तो पूर्व की ओर से वृष्टि होगी। एवमेव दक्षिणदिशामें गर्भ है, तो उत्तर से, उत्तरमें गर्भ में है, तो दक्षिणसे वृष्टि होगी। यदि दिन में गर्भाधान है, तो रात्रि में यदि रात्रि में गर्भाधान है, तो दिन में वृष्टि होगी। इसप्रकार गर्भाधानानुगता दिक्-काल से सर्वथा विपरीत दिक्-कालमें गर्भ का प्रसव होगा। इस वैधर्म्य का कारण स्पष्ट है। 6॥ मास के अनन्तर दृश्य-स्थिति के अनुसार आकाशप्रदेश में विपर्य्यय होजाता है। निष्कर्ष यही है कि, जिस दिन, जिस पक्ष, जिस दिशा में गर्भाधान होता है, 6॥ मास के अनन्तर भी आकाश के उसी प्रदेश-कालमें गर्भस्थिति रहती है। तथापि पार्थिवपरिभ्रमणानुगत उत्तर-दक्षिणायन भेद से विभिन्न बनी हुई हमारी दृष्टि विपर्य्यय का कारण बन जाती है। यों समझिए कि, शुक्लपक्ष में गर्भाधान हुआ। ठीक 6॥ मासानन्तर पानी तो उसी आकाशप्रदेश में रहेगा जिस प्रदेश में 6॥ मास पूर्व पृथिवी से गया था। परन्तु अयन-भेद से आकाश का वही प्रदेश, जो 6॥ मास पूर्व शुक्लपक्ष का अनुगामी था, 6॥ मासानन्तर कृष्णपक्षानुगामी बन जायगा। यही व्यवस्था अहोरात्र, पक्ष-पौर्णमासि दिशाओं के सम्बन्ध में समझिए। प्रदेश विधर्म्मी (विभिन्न) नहीं है परिभ्रमणानुगता दृष्टि का विभिन्न दिक्काल के भेद का कारण है।

जिस दिन गर्भाधान होता है, उस दिन द्युलोक में विशेष परिस्थिति उत्पन्न होजाती है। यही स्थिति गर्भाधान का परिचायक बनता है। शीतवायु, श्वेत अभ्र, विद्युत, गर्जन, आदि ही गर्भाधान के परिचायक हैं। इन परिचय-चिह्नों का परिज्ञान

प्राप्त कीजिए, दिक्-देश-काल-आदि को ठीक-ठीक लक्ष्य बना लीजिए। अमुक दिन से ठीक १९६ वें दिन अमुक पक्ष, अमुक दिन, अमुक रात्रि, अमुक दिशा में अमुक मात्रा से पानी बरसेगा। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखिए कि, यदि गर्भपातक, निरोधक, शनि-मंगल-धूम्रादि-प्रतिबन्धक सूर्य और चन्द्रमाके मध्यमें आजायँगे, तो परिस्थिति के अनुसार कालान्तरमें (जोकि काल गणितानुसार सर्वथा व्यवस्थित है) या तो गर्भपात होजायगा, अथवा तो वह जल जम कर-पाषाण बन जायगा। फलतः १९६ वें दिन वृष्टि न होगी। यदि गर्भपात होगया, तबतो कोई बात शेष रह ही नहीं जाती। यदि गर्भपात नहीं है, गर्भनिरोध है, तो-कालान्तर में करकापात होगा। वही जमा हुआ पानी करका (ओले) पात है। इस प्रकार, गर्भाधानभाव, गर्भपात, गर्भ निरोध, आदि निमित्तों का सम्यक् परिज्ञान प्राप्त करके, वृष्टि का जो समय बतलाया जायगा, वह प्रकृति का अटल विधान माना जायगा, जिस की उपपत्ति कर आचार्यों ने अपना सर्वस्व खो दिया है। वाक्यचर्चा समाप्त हुई, अब मन्त्रार्थ की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। 'समुद्रं गर्भो०' इत्यादि मन्त्र का अक्षरार्थ है- "लोकसर्ग के रेतोभूत गर्भ समुद्र गर्भ रूप से विष्णु (आकाश) के विभिन्न दिक्-प्रदेश में प्रतिष्ठित होते हैं। वे अप्‌गर्भ धीभावों, तथा मानसभावों से विपश्चित्भाव से सर्वत्र व्याप्त हो जाते हैं।"

वन, लोक, देव, भव्य, इन चार प्राकृतिक सर्गों की प्रवृत्ति क्रमशः प्राणमुख आपोमुख, वाङ्मुख अन्नगर्भित अन्नादमुख, इन चार मुखों से मानी गई है। प्राणादि प्रकृतियों क्रम से चार मुख हैं। इन्हीं से सृष्टित्रयी का विकास हुआ है। 'लोकादर्ष्वप्सु प्रतिष्ठिता'-'सर्वमापोमयं जगत्'-इत्यादि के अनुसार अप्तत्त्व ही लोकसृष्टि का मूलप्रवर्तक माना गया है। यही लोकसर्ग का आरम्भक है। अतएव 'जीवनं भुवनं वनम्' रूपसे 'आप' को भुवन ('लोक') नाम से भी व्यवहृत किया जाता है। अप्तत्त्व भुवन का आरम्भक है, अतएव इसे अवश्य ही 'भुवनस्य रेत' कहा जासकता है। पार्थिव भुवन की रसभूता जलमात्रा अग्निवायुसहयोगिनी सूर्यरश्मियों के द्वारा आरोहित होती है। आरोहित ऊर्ध्वगता जलमात्रा सौररश्मियों में हो। गर्भिता गर्भीभूता रहती है। गर्भीभूता जलमात्रा अन्तरिक्षमें प्रतिष्ठित रहती है। आकाश परमेष्ठी है परमेष्ठी विष्णु है। इसे आकाश की अन्तिम सीमा 'व्योम' कहलाई है, यही 'विष्णुपद' नाम से व्यवहृत हुआ है। अन्तिम सीमा, भू अवस्था है, यही आकाश विष्णुमण्डल है। उत्तरम् तानुगत आकाश विष्णुपद ही आकाश का उच्चतम स्थान माना गया है। इसी विष्णुपद के लिए कहा जाता है—

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।
दिवीव चक्षुराततम् ॥ ऋक्सं० १।२२।२० ।

जिस प्रकार चन्द्रमा भवृत्त के आधार पर भूपिण्ड के चारों ओर घूमता है, भूपिण्ड क्रान्तिवृत्त के आधार पर सूर्य्य के चारों ओर, सूर्य्यपिण्ड सूत्रात्मवृत्त के आधार पर परमेष्ठी के चारों ओर, परमेष्ठी प्राणवृत्त के आधार पर स्वयम्भू के चारों ओर परिक्रमा लगाता रहता है, एवमेव उत्तरध्रुव नाकस्थ विष्णुपद के चारों ओर परिक्रमा लगाया करता है। ध्रुव की यह परिक्रमा २५००० वर्षों में समाप्त होती है। जिस प्रकार विषुवद्वृत्तीय पृष्ठीकेन्द्र ध्रुव है, एवमेव क्रान्तिवृत्तीय पृष्ठीकेन्द्र यही कदम्ब (विष्णुपद) है। ध्रुव विषुवद्वृत्त का केन्द्र है, तो कदम्ब क्रान्तिवृत्त का केन्द्र है। विषुवद्वृत्त, और क्रान्तिवृत्त में २४ अंश का अन्तर है। यही अन्तर ध्रुव, और कदम्बमूर्त्ति नाकस्थ विष्णु का है। २४ अंश के व्यासार्द्ध से ४८ अंश के परिसर का जो उत्तराकाशानुगत प्रदेश है, वही विष्णुपद है। इसके केन्द्र में प्रतिष्ठित पारमेष्ठ्य प्राण ही -जो अपने प्राणधर्म्म से सर्वथा अमूर्त्त है -विष्णु है। इस विष्णु का प्रदेश ही उत्तराकाश प्रदेश है। यहीं सवत्क्रान्त अक्षमात्रा गर्भीभूत रहती है। जैसा कि बतलाया गया है, भूपरिभ्रमण के कारण सप्ताह गर्भा रश्मियाँ, किंवा तद्रूपा आप—गर्भाधान-स्थिति के ठीक विपर्य्यय से बरसती हैं। इसी विपर्य्ययभाव का-'प्रदिशा विचक्रमिरे' वाक्य से स्पष्टीकरण हुआ है।

गर्भाधान होता है चन्द्रमा के सहयोग से, प्रसव होता है सूर्य्य के सहयोग से, जैसा कि-'चन्द्रचारेण गर्भेति, सूर्य्यचारेण वर्षति' रूप से पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिये कि, चन्द्रमा के द्वारा गर्भाधान होता है एक ही दिन में, परन्तु सूर्य्यानुगत प्रसवकाल ११ दिवसों में विभक्त है। मन्त्रोपात्त 'मनसा' शब्द चन्द्रचारानुगत गर्भाधान का सूचक है, एवं 'धीतिभिः' सूर्य्यचारानुगत प्रसवकर्म्म का सूचक है। कारण स्पष्ट है। चान्द्रसोम मनोमय है, और अग्नि धीमय है। मन का चन्द्रमा से, बुद्धि का सूर्य्य से सम्बन्ध है। मनसा (चान्द्रसोमेन) धार्य्यमाण गर्भ धीतियों (सौररश्मियों) के चार से ही तो प्रसूत होता है। श्रुति का 'विपश्चित' शब्द अतिशयरूपेण रहस्यपूर्ण है। विपरीत किंवा तिरश्चि स्थिति ही इस शब्द से सूचित हो रही है। 'विपरीत -तिरश्चिभाग चयनम्-चित्-येषां ते गर्भा' ही विपश्चित का रहस्यार्थ है। 'वि' पूर्वक चय ही 'विपश्चित' का मौलिक आधार है। संख्या-संकेत-विज्ञानानुसार 'च' कार १ संख्या का सूचक है, 'श' कार ५ संख्या

का सूचक है। पश का अर्थ होता है–१५ संख्या। 'अङ्कानां वामतो गतिः' के अनुसार १–५ (१५) की वामस्थिति के क्रमसे ५–१ (५१) निष्कर्ष निकलता है। वह यहां अभिप्रेत है नहीं। अभिप्रेत है १५ ही। यही है भाव 'वि' से सूचित होरहा है। 'पश्-भावं–(५१ संख्या) विरुद्ध (१५) कुर्य्यात्, ५१ स्थाने १५ विदध्यात्' यही रहस्यार्थ 'विपश्' से सूचित हुआ है। तात्पर्य्य यह निकलता है कि, जिस नक्षत्र में आकाश-प्रदेश में गर्भाधान होता है, अतमात्रा की स्थिति (सञ्चय) होती है, उस नक्षत्रके १५ वें नक्षत्र में उस गर्भीभूत अन्न की वृद्धि होती है। इसप्रकार १५ नक्षत्रभाव से ही जल की स्थिति होती है। अतएव गर्भीभूता आपोमयी रश्मियों को अवश्य ही 'विपश्चित' कहा जासकता है। यदि मूल नक्षत्र में मनसा (चन्द्रधारेण) गर्भाधान है, तो आर्द्रा नक्षत्रमें (जो कि मूलम १५ वाँ नक्षत्र है)–धीतिभिः (सूर्य्यधारेण) उस गर्भ की प्रसूति हो जायगी, जैसा कि 'पौषे मूलमरयमस्त्वम्०' इत्यादिरूप से पूर्व में स्पष्ट किया आचुका है। इस प्रकार 'समाढ गमा०' इत्यादि मन्त्र गर्भस्थिति का स्वरूप बतलाता हुआ चन्द्रधारानुगत गर्भाधान, सूर्य्यधारानुगत प्रसवकर्म्म, दोनों का भी स्पष्टीकरण कर रहा है। अब क्रमप्राप्त-'कृष्णं नियानं हरय सुपर्णा' इत्यादि मन्त्र की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

मन्त्रार्थ के सम्बन्ध में विशेष वक्तव्य नहीं है। पार्थिव जल किस के द्वारा किस मार्ग से कहां जाता है? कहां से कब, किस के द्वारा बरसता है? इत्यादि प्रश्नों के पूर्वोक्त समाधानों का ही–'कृष्णं नियानम०' इत्यादि मन्त्र से स्पष्टीकरण हुआ है। शुक्लमार्ग उत्तरायण कहलाता है, कृष्णमार्ग दक्षिणायन कहलाता है। कृष्णमार्ग का पार्थिव कृष्णवर्ण भूताग्नि से सम्बन्ध है, शुक्लमार्ग का और शुक्लवर्ण सावित्राग्नि से सम्बन्ध है। 'ऊपर' का अर्थ है 'उत्तर' नीचे का अर्थ है–'दक्षिण'। दक्षिणदिशा भूपिण्ड की आवासभूमि है उत्तरदिशा सूर्य्य की आवासभूमि है। अत एव और इन्द्र का उत्तर से सम्बन्ध माना गया है। दक्षिणभाग पृथिवी का अपना स्थान है, यह पार्थिव कृष्णाग्नि के सम्बन्ध से कृष्ण है। यही अथ प्रदेश है। यही–कृष्ण–यानम है। इसके निम्न भाव का ही 'नि' से सङ्केत हुआ है। फलतः 'कृष्णं नि–यानम' का अर्थ होता है—दक्षिणस्था–अधोऽवस्थिता पृथिवी को लक्ष्य बनाकर (कृष्णं नियानमभिलक्ष्य)। उत्तर मार्गस्थ किंवा शुक्लपथानुगामिनी सूर्य्य की रश्मियाँ अपने आभाविक हरण लक्षण आदान धर्म्म से यहां–'हरय' (हरन्ति, आहरन्ति) कहलाई हैं यहां आग्नेयतत्त्व सुपर्णचिति के सम्बन्ध से इन्हें 'सुपर्णा' कहा गया है। पूर्व में बतलाया गया है कि आग्नेय गायत्र सौरतेज गायत्री है, चिति से इसका

रूप प्रतिफलित होने वाला सौर तेज गायत्री है। यह गायत्रतेज ही सुपर्ण है, जिसके गर्भ में—'नाऽपो वायुर्सोमोगाद्वारोऽहमम्' सिद्धान्तानुसार पार्थिव जलमात्रा प्रतिष्ठित रहती है। 'पवि च प्र ते निचाम्याद' ही इस गायत्र सुपर्ण का तात्त्विक इतिवृत्त है, जिसका पूर्व के 'सामिधेनी-ब्राह्मण' में विशद वैज्ञानिक विवेचन किया जा चुका है। आगमनावस्था में सूर्य्यरश्मियाँ केवल रश्मियाँ हैं, गमनदशा (गायत्रीदशा) में ही ये आहरण करती हैं, तभी इनकी सुपर्णता अन्वर्थ बनती है। अतएव गमनावस्थापन्ना गायत्रतेजोमयी सूर्यरश्मियों को ही 'हरय सुपर्णा' कहा जायगा। ये रश्मियाँ निम्न-(दक्षिण) भागस्थ कृष्णयान (भूपिण्ड) को लक्ष्य बनाकर (भूपिण्ड से-संश्लिष्ट होकर) तत्रस्था जलमात्रा को अपने गर्भ में धारण करती हुई द्युलोक की ओर प्रतिफलित होजाती हैं। 'कृष्णं नियानं हरय सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पत-न्ति' यह मन्त्रपूर्वार्द्ध पार्थिव जलमात्रा की इस गर्भाधानावस्था का ही विश्लेषण कर रहा है।

अप्, वायु, सोम, तीनों भार्गव तत्त्व 'ऋत' कहलाते हैं। 'ऋतमेव परमेष्ठी' इस आथर्वणसिद्धान्त के अनुसार आपोमय परमेष्ठी ही ऋत है, इसी को पूर्वमन्त्रम-करण में 'विष्णुपद' कहा गया है। यह पारमेष्ठ्य अप्तत्त्व घन-तरल-विरल-भेद से आपः वायु-सोमः, इन तीन अवस्थाओं में परिणत रहता है। घनावस्थापन्न अप्तत्त्व का आसुर वारुणप्राण से, तरलावस्थापन्न वायुतत्त्व का सोमरक्षक गन्धर्वप्राण से, एवं विरलावस्थापन्न सोमतत्त्व का सौम्य पितृप्राण से सम्बन्ध माना गया है। यही सोमतत्त्व विष्णुका स्वरूप समर्पक माना गया है, अतएव इनका यत्र तत्र 'सोम-वंशी' रूप से उपवर्णन उपलब्ध होता है। सोमसम्बन्ध से उत्तर स्थान विष्णुपद है, अप्सम्बन्ध से यही उत्तरस्थान वारुण भी है। ऋत अप् ऋत सोमात्मकता ही उत्तर स्थान की ऋतसदनता है, जिसका निम्न लिखित रूप से विश्लेषण हुआ है—

वरुणस्योत्तम्भनमसि वरुणस्य स्कम्भसर्जनीस्थो वरुणस्य ऋतसदन्यसि ।
वरुणस्य ऋतसदनमसि वरुणस्य ऋतसदनमासीद ॥

—यजुर्सं० ४।३६।

दक्षिणस्थ भूपिण्ड से सूर्य्यरश्मियों के द्वारा द्युलोक में गर्भीभूत जलमात्रा कब वापस भूलोक में बरसती है? इसी प्रश्न का समाधान करते हुए मुनि कहते हैं कि, व अप्मय सुपर्ण (रश्मियाँ) जब ऋतसदन से (उत्तरदिशा से परावर्तित होती हैं (दक्षिणायन का अनुगमन करती हैं) आदित्-सम्बन्धित उत्तरकाल में ही

घृत (जल) से पृथिवी काल्वालीकृत हो जाती है, जलमयी बन जाती है। यही गर्भ की प्रसूति है। क्रमप्राप्त-'समानमेतदुदकम्०' इत्यादि तृतीय मन्त्र का विश्लेषण पूर्व में किया ही जा चुका है। इस प्रकार यह अस्य-त्रयी वृष्टिविद्या का संक्षिप्त स्पष्टीकरण करने में सफल हो रही है।

यह तो हुई श्रुतिचर्चा। अब दो शब्दों में पुराणचर्चा का भी समन्वय इसलिये कर लेना चाहिये कि, तथाकथित भ्रान्तों की दृष्टि में पुराण एक निरर्थक-शास्त्र बन रहा है। जिन तत्त्वविज्ञानों का वेदशास्त्र में प्रकीर्णक रूप से विश्लेषण हुआ है, पुराण ने बड़ी ही प्रसादमयी भाषा में एकत्र उनका समन्वय कर डाला है। तभी तो-'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्' कथन चरितार्थ हो रहा है। अधिक विस्तार में न जाकर वृष्टिविद्या से सम्बन्ध रखने वाले कुछ एक वचन मात्र ही यहाँ उद्धृत कर दिये जाते हैं—

१—अष्टमासधृतं गर्भं भास्करस्य गभस्तिभिः।
रसं सर्वसमुद्राणां द्यौः प्रसूते रसायनम्॥—भा०२।०।

२—विवस्वानष्टभिर्मासैरादायापो रसात्मिकाः।
वर्षत्यम्बु ततश्चान्न-मन्नादमखिलं जगत्॥

३—आदत्ते रश्मिभिर्यत्तु क्षितिसंस्थं रसं रविः।
तमुत्सृजति भूतानां पुष्ट्यर्थं सस्यवृद्धये॥

४—सरित्-समुद्र-स्थयापः प्राणिसम्भवाः।
चतुः प्रकारा भगवानादत्ते सवितांशुभिः॥

५—विवस्वानंशुभिस्तीक्ष्णैरादाय जगतोजलम्।
सोमं पुष्णाति सोमस्तु वायुनाडीमयैर्दिवम्॥

६—प्रर्वैविक्षिप्यतेऽभ्रं तु धूमाग्न्यनिलमूर्तिषु।
अभ्रस्थाः प्रपतन्त्यापो वायुना समुदीरिताः॥ इत्यादि
—ब्रह्मपुराणम्

पुद्गिनमयमाया म मन्त्र प श्रवन वाने पूर्वप्रतिपादित वृष्टिविज्ञान का तैत्तिरीय संहिता में भी (कारीरी त्रिप्रकरण में) दिग्दर्शन कराया गया है जिसका निष्कर्ष

यही है कि, अग्नि-सोम-सूर्य-मित्र-वरुण-अर्यमा-पर्जन्यादि प्राकृतिक देवताओं के समन्वय से वृष्टिकर्म सम्पादित है। यदि राष्ट्र में अनावृष्टि-जनित दुष्काल की सम्भावना हो, तो वैज्ञानिक ब्राह्मणों को उस 'कारीरी' इष्टि का अनुष्ठान करना चाहिए, जिस में वृष्ट्यभिप्राय से उक्त प्राकृत देवताओं के आधिभौतिक द्रव्यों के माध्यम से अनुमद्भाति का विश्लेषण हुआ है। प्रकरण मात्र रक्षा से अधिक विस्तृत होता जा रहा है। अतएव तै० सं० का वह स्थल यहां उद्धृतमात्र कर दिया जाता है। सम्भव है इसी उद्धृत निम्नप्रकरण वैज्ञानिकों का ध्यान वृष्टिविद्या के महत्त्वपूर्ण विरले पक्ष की ओर आकर्षित करेगा।

मन्त्रपाठम्-(१)-"मारुतमसि मरुतामोजोऽपां धारां भिन्धि (१)॥ रमयत मरुतः श्येनमायिनं मनोजवसं वृषणं सुवृक्तिं। येन शर्ध उग्रमवसृष्ट मति तदश्विना परिधत्त स्वस्ति (२)॥ पुरोवातो वर्षन् जिन्वरावृत् स्वाहा (३)॥ वातावद्वर्षन्नुग्ररावृत् स्वाहा (४)॥ स्तनयन् वर्षन् भीमरावृत् स्वाहा (५)॥ अनशन्यवस्फूर्जन् दिद्युद्वर्षन् त्वेषरावृत् स्वाहा (६)॥ अतिरात्रं वर्षन् पूर्तिरावृत् स्वाहा (७)॥ बहु हायमवृषादिति श्रुतरावृत् स्वाहा (८)॥ आतपति वर्षन् विराड्रावृत् स्वाहा (९)॥ अवस्फूर्जन् दिद्युद्वर्षन् भूतरावृत् स्वाहा (१०)॥ मान्दा वाशा शुन्ध्यूरजिरा ज्योतिष्मतीस्तमस्वरीरुन्दतीः सुफेना, मित्रभृतः क्षत्रभृतः सुराष्ट्रा इह मावत ११॥ वृष्णो अश्वस्य सन्दानमसि, वृष्ट्यै त्वोपनह्यामि (१२)"॥ द्वादशमन्त्रात्मकमेव सूक्तं प्रपाठकः, सप्तमाऽनुवाकश्च। तै० सं० २।४।७—

ब्राह्मणम्-मन्त्रव्याख्यानम्-(१)-"मारुतमसि मरुतामोज-इति,-कृष्णं वासः कृष्णतूषं परिधत्ते। एतद्वै वृष्ट्यै रूपम्। सरूप एव भूत्वा पर्जन्यं वर्षयति (१)॥ रमयत मरुतः श्येनमायिनम्-इति,-पश्चाद्वातं प्रतिमीवति। पुरोवातमेव जनयति वर्षस्यावरुद्ध्यै (२)॥ वातनामानि जुहोति। "वायुर्वै वृष्ट्या ईशे"। वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति। स एवास्मै पर्जन्यं वर्षयति (३)॥ अष्टौ जुहोति। चतस्रो वै दिशः, चतस्रोऽवान्तरदिशः। दिग्भ्य एव वृष्टिं सम्प्रच्यावयति (४)॥ कृष्णाजिने सयौति हविरेवाऽक। अन्ततः सयौति अवरुद्ध्यै (५)॥ पशूनामवमानानां शीर्षाणि परापतन्। ते खर्जूरा अभवन्। तेषां रस ऊर्ध्वोऽपतत्। तानि

करीराण्यभवन्। सौम्यानि वै करीराणि। सौम्या खलु वा आहुतिर्दिवो वृष्टिं च्यावयति (६)॥ यत् करीराणि भवन्ति—सौम्ययैवाहुत्या दिवो वृष्टिमवरुन्धे। मधुषा संयौति। अपां वा एष ओषधीनां रसः यन्मधु। अद्भ्य एवौषधीभ्यो वर्षति। अथो अद्भ्य एवौषधीभ्यो वृष्टिं निनयति। मान्दा वाशाः—इति संयौति। नामधेयैरेवैना अच्छैति। अथो यथा ब्रूयात्—असावेहीति, एवमेवैना नामधेयैराच्यावयति (७)॥ वृष्णो अश्वस्य सन्दानमसि। वृष्ट्यै त्वोपनह्यामि, इत्याह। वृषा वा अश्वः, वृषा पर्जन्यः। कृष्ण इव खलु वै भूत्वा वर्षति। रूपेणैवैनं समर्धयति—वर्षस्य रूढ्यै (८)॥—तै॰सं॰ २।४।९।

मन्त्रपाठम्—(२)—"देवा वसव्या अग्ने सोम सूर्य (१)॥ देवाः शर्मण्या मित्रावरुणार्यमन् (२)॥ देवाः—सपीतयोऽपांनपादाशुहेमन् (३)॥ उद्नो दत्तोदधिं भिन्त, दिवः पर्जन्यादन्तरिक्षात् पृथिव्यास्ततो नो वृष्ट्यावत (४)॥ दिवा चित्तमः कृण्वन्ति पर्जन्येनोदवाहेन पृथिवीं यद् व्युन्दन्ति (५)॥ आ यं नरः सुदानवो ददाशुषे दिवः कोशमचुच्यवुः, वि पर्जन्याः सृजन्ति रोदसी अनु धन्वना यन्ति वृष्टयः (६)॥ उदीरयथा मरुतः समुद्रतो यूयं वृष्टिं वर्षयथा पुरीषिणः, न वो दस्रा उपदस्यन्ति धेनवः, शुभं यातामनु रथा अवृत्सत (७)॥ सृजा वृष्टिं दिव, आद्भिः समुद्रं पृण, अब्जा असि प्रथमजा, बलमसि समुद्रियम् (८)॥ उन्नम्भय पृथिवीं भिन्द्धीदं दिव्यं नभः, उद्नो दिव्यस्य नो, देहीशानो विसृजा दृतिम् (९)॥ ये देवा दिविभागा येऽन्तरिक्षभागा ये पृथिवीभागाः त इमं यज्ञमवन्तु त इदं क्षेत्रमाविशन्तु, त इदं क्षेत्रमनुविशन्तु (१०)॥ दशमन्त्रात्मकश्चतुर्थः प्रपाठकः, अष्टमोऽनुवाकश्च।—तै॰ सं॰ २।४।८।

उपयाजमन्त्रव्याख्यानम्—(३)—"देवा वसव्या, देवाः शर्मण्या, देवाः सपीतय इत्याबध्नाति। देवताभिरेवान्वहं वृष्टिमिच्छति। यदि वर्षेत्—तावत्येव होतव्यम्। यदि न वर्षेत् श्वोभूते हविर्निर्वपेत्। अहोरात्रे वै मित्रावरुणौ अहोरात्राभ्यां खलु वै पर्जन्यो वर्षति। नक्तं वा हि दिवा वा वर्षति। मित्रावरुणावेव स्वेन भागधेयेनोपधावति। तावेवास्मै अहोरात्राभ्यां पर्जन्यं वर्षयतः। अग्नये धामच्छदे पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत्,

मारुत सप्तकपालं, सौर्यमेककपालम्। अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति मरुत सृष्टां नयन्ति, यदा खलु वा असावादित्यो न्यङ् रश्मिभिः पर्य्यावर्त्तते, अथ वर्षति। धामच्छदिव खलु वै भूत्वा वर्षति। एता वै देवता वृष्ट्या ईशते। ता एव स्वेन भागधेयेनोपधावति ता एवास्मै पर्जन्य वर्षयन्ति।

उता वर्विष्यन् वर्षस्येत। सृजा वृष्टिं दिवः, आद्भिः समुद्र पृण, इत्याह। इमाश्चवामूश्चाप समर्द्धयति। अयो आभिरेवामूरच्छेति। अब्जा असि प्रथमजा, बलमसि समुद्रियं, इत्याह। यथा यजुरेवैतत्। उन्नम्भय पृथिवीं इति बर्हाहां जुहोति। एषा वा ओषधीनां वृष्टिवनिः। तयैव वृष्टिमाच्यावयति। ये देवा दिवि भागाः—इति कृष्णाजिनमवधूनाति। इम एवास्मै लोका प्रीता अभीष्टा भवन्ति" ।—तै० सं० २।४।१०।

तैत्तिरीय संहिता के चार अनुवाकों से सम्बन्ध रखने वाले मन्त्र भाग से सुप्रसिद्ध 'कारीरी-इष्टि' की इतिकर्तव्यता का स्पष्टीकरण हुआ है। इन्हीं विकर्तव्यता के साथ साथ उक्त इष्टि प्रकरण में वृष्टि से सम्बन्ध रखने वाले आधि दैविक विज्ञान का भी आंशिक विश्लेषण हुआ है। 'मारुत्वमसि०' यहां से इसका उपक्रम है, एवं 'अभीष्टा भवन्ति' पर अवसान है। उपक्रम वाक्य यह सूचित कर रहा है कि, आन्तरिक्ष्य मरुद्देवता (वायुदेवता) ही वृष्टिकर्म्म के प्रधान निमित्त हैं। यद्यपि अग्नि, सूर्य्य, विद्युत्, स्तनयित्नु, सोम, मेघ, आदि सभी निमित्त बनते हैं, परन्तु इन सब प्राणों का समन्वय एकमात्र गतिधर्म्मा वायु के आधार पर ही निर्भर है। अतएव वायु को ही प्रधान निमित्त माना जा सकता है। अतएव प्राच्यायनमन्त्रव्याख्यान श्रुति में 'वायुर्वै वृष्ट्या इरो' इत्यादिरूप से वायु को ही वृष्टि का प्रधान प्रवर्त्तक बतलाया गया है। इसी मौल सिद्धान्त के आधार पर निम्न लिखित वचन प्रतिष्ठित हुए हैं—

सूर्य्ये दक्षिणगोलस्थे तप्तादम्बोधुरुत्थितिः।
तस्रोय वायुना क्षिप्तं दत्ते देशे प्रवर्षति ॥ १ ॥
न सूर्य्यो न च नक्षत्रं न चन्द्रस्तत्प्रकारणम् ॥
वायुनैवोद्धृतं तोयं वायुरेव प्रवर्षति ॥ २ ॥

—श्रीगुरुप्रणीत कादम्बिनी

वृष्टि है भौतिक द्रव्यों पर, मनोयोग है—आधिदैविक प्राण-देवताओं के साथ, यही सम्पूर्णमन्त्रभाग का तात्त्विक निष्कर्ष है। कारीरी इष्टि में काला वस्त्र पहिना जाता है, जिसके चारों कोने गहरे काले होते हैं। यही वस्त्र-'कृष्णतूष-कृष्ण वास' कहलाया है। यह कृष्णवस्त्र भासप्रद मेघ, कृष्णाजल, एवं कृष्णमरुत्, इत्यादि का प्रतिनिधि माना गया है। यही वृष्टि का स्वरूप है। मेघ इसी रूप में परिणित होकर बरसता है। इसी प्रकार कारीर सौम्यप्राण का संग्राहक है। धावहोम अष्टविध मासत्रिक सर्प-वायु का संग्राहक है। पार्थिव अग्नि धाम रूपक है। वसु सम्बन्धित यह वसुष्टावयव है। आन्तरिक्ष्य मरुत् सुयावयव है, सूर्य 'एकता एव स्वाहा'। वृष्टिकर्म में तीनों का सहयोग अपेक्षित है। अतएव कारीरी इष्टि में धामचक्र अग्नि, मरुत्वान वायु, सौर इन्द्र, तीनों के लिए क्रमशः अष्टाकपाल-सप्तकपाल-एककपाल-पुरोडाश का निर्वाप होता है। तीनों देवताओं का उपयोग स्पष्ट है। पार्थिव अग्नि जलमात्र ऊपर फैंकता है, आन्तरिक्ष्य मरुत्वान् उसे अपने गर्भ में रखता है, सूर्य रश्मियों से बरसा देते हैं। 'अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति०' इत्यादि से इसी उपयोग का स्पष्टीकरण हुआ है। 'ये देवा दिवि भागा' (ऐन्द्राः), येऽन्तरिक्षभागा (वायव्याः), ये पृथिवीभागा (आग्नेयाः)' के अनुसार तीनों ही इस वृष्टियज्ञ (कारीरीष्टि) के स्वरूप सम्पादक हैं। अवश्य ही तत्तत् प्राणदेवतानुरूप कृष्णवास करीर, पुरोडाशादि तत्तत् भौतिक द्रव्यों के माध्यम से तत्तत्प्राणदेवताओं के द्वारा अभीष्ट सिद्धि (वर्षा) हो जाती है। 'इम लोकाम्सो लोका प्रीता अभीष्टा भवन्ति इस उपसंहार वाक्य से इसी फलसिद्धि का समर्थन हुआ है। यज्ञप्रक्रियाओं से क्या सम्भव नहीं? आवश्यकता है—रहस्य ज्ञानपूर्वक उनके अनुगमन की। प्राकृतिक प्राण-देवताओं के प्रकृतिविरुद्ध हो जाने से ही अनावृष्टि, अतिवृष्टि—जनित दुष्काल, जनपद-विद्ध्वंसिनी, उल्कापात, उल्कापात आग्नेय-वारुण-ऐन्द्र-वायव्यादि भूकम्प, आदि विघ्न उपस्थित हुआ करते हैं। मानव समाज प्राकृतिक विश्व का अवयव है। इस के प्रकृतिविरुद्ध-गमन से अवयवीरूप प्राकृतिक विश्व के प्राकृतिक विधानों में अव्यवस्था का समावेश स्वतः सिद्ध है। इस प्रकार प्रकृतिविरुद्ध आचरण करते हुए हम स्वयं ही उन विघ्नों के प्रवर्त्तक बनते हैं। वर्त्तमान युग के मानव समाज की इसी विकृति से आज पग पग हमें इन विघ्नों का आक्रमण सहना पड़ रहा है। यद्यपि प्राच्य शिष्टसम्मतमार्ग (यज्ञ) आज के शिक्षित समाज के लिए जहाँ उपहास की वस्तु बन रहा है वहाँ प्रकृति का अभिशापिक प्रवृत्ति पतन वाले समस्त मण्डल अनागताभ्यागमन, अभ्युदय नाशन, वत-द्विज-गुरु-गुरुपापरिमाण,

मनमाजनिन्दा, मलिनीकरण-संकरीकरण-अतिभ्रंशकर, आदि पातक-अति पातक-महापातक निन्द्य असत्कर्म्मों में प्रवृत्ति, मर्य्यादोल्लङ्घन, कल्पित साम्यवाद की पोषकता, सर्वोपरि दुराग्रह, आदि आदि अधर्म्ममय भाव बने हुए हैं। स्मरण रखिए, जब तक प्रकृति का अनुग्रह प्राप्त नहीं कर लिया जायगा, तब तक एक दो-चार-दस नहीं, सहस्रों आन्दोलनों से भी, जिनके मूल में पातक व्यक्ति-प्रतिष्ठा का मोह प्रतिष्ठित है-मानव समाज सुस्थिर न बन सकेगा। इस के लिए तो प्राकृतिक विश्व की सुस्थिरता ही प्रधान साधन होगा। एवं इस साधन के लिए प्राकृतिक-नियम संघातस्वरूप शाश्वत सनातनधर्म्म-पथ ही एकमात्र श्रेयःपन्था माना जायगा। भारतमानवसमाज के कल्याण के लिए उसी प्रशस्त पथ की भावना करते हुए सुविगम्या भाषा से सम्बन्ध रखने वाला ऋतुविज्ञान-प्रकरण उपरत होता है, एवं सहजभाषानुगामी प्रकरण का संक्षिप्त निरूपण प्रारम्भ होता है।

एक वर्ष में यों तो वसन्तादि ६ ऋतुएँ (मौसम) मानीं गई हैं, परन्तु 'ग्रीष्म-वर्षा-शीत' इन तीन स्थूल ऋतुओं का तो सर्वसाधारण को भी बोध है। इन्हीं तीनों को लक्ष्य बनाकर कहा जाता है—'त्रयो वा ऋतवः सम्वत्सरस्य' (शत० ३।४।४।१७)। सहजभाषा में ये ही तीनों क्रमशः गर्मी, बरसात, सर्दी, इन नामों से प्रसिद्ध हैं। इन तीन मौसमों के प्रत्येक के ४ ४ महीनें होजाते हैं। इस ओर चातुर्मास्यात्मिका गर्मी है, उस ओर चातुर्मास्यात्मिका सर्दी है, मध्यमें चातुर्मास्यात्मिका बरसात है। बरसात दोनों के मध्य में है। और ऐसा एक लौकिकन्याय (व्यवहार) है कि, मध्यस्थ पदार्थ का इधर-उधर रहने वाले दोनों पार्श्ववर्त्ती पदार्थों से ग्रहण हो जाता है। अतएव कहा जासकता है कि, एक वर्ष में केवल गर्मी, एवं सर्दी, ये दो ही मौसम हैं। बरसात का ग्रहण इन दोनों के ग्रहण से ही चरितार्थ है। इसी व्यवहार के आधार पर पूरे वर्ष में ग्रीष्मकाल, शीतकाल, ये दो ही मौसम मान लिए जाते हैं। ग्रीष्मकाल उष्णकाल है, इसी का अपभ्रंश 'उन्हाल्' है। शीतकाल का अपभ्रंश 'स्याल्' है। वर्ष में ये दो ही फसल होतीं हैं। यदि और भी सूक्ष्म विचार किया जाता है, तो हमें इस तथ्य पर पहुँचना पड़ता है कि, वस्तुतः गर्मी ही सम्पूर्ण वर्ष की मूल प्रतिष्ठा है। कारण स्पष्ट है। पृथिवी पर रहने वालों के लिए पार्थिव ऋतुओं को ही प्रधानता दी जायगी। एवं 'अग्निभूःस्थानः'-'यथाग्निगर्भा पृथिवी'-इत्यादि वचनों के अनुसार पृथिवी में अग्नितत्त्व की प्रधानता है। अतएव मानना पड़ेगा कि पार्थिव प्रजा से सम्बन्ध रखने वाली ऋतुओं में पार्थिव अग्नि की ही प्रधानता है। अग्नि की ह्रास-वृद्धि से ही पार्थिव २ ३ ४, ६ ० आदि विभिन्न

ऋतुओं की प्रवृत्ति होती है। जिसे हम 'शीत' कहते हैं, वही वैज्ञानिक 'सोम' तत्त्व है। इस सोमतत्त्व के भास्वरसोम, दिक्सोम भेद से दो विवर्त माने गए हैं। प्रत्यक्ष दृष्ट आन्तरिक्ष्य चन्द्रमा भास्वरसोम है। यही 'सहृदयं सशरीरं-सत्यम्' परिभाषानुसार केन्द्रानुगत-पिण्डावच्छिन्न या प्रभास्वर (ज्योतिर्मय-चमकीला) सोम अवश्य ही 'सत्यसोम' माना जासकता है। विशाल अन्तरिक्ष में वायुसमुद्र व्याप्त है। इस वाष्पावस्थापन्न वायुसमुद्र में व्याप्त मीरूप-भाषात्मक सोमतत्त्व ही दूसरा 'दिक्सोम' है। 'अहृदयमशरीरं 'ऋतम्' इस परिभाषा के अनुसार केन्द्र-पिण्डभाव से वञ्चित भाषात्मक इस आन्तरिक्ष्य दिक्सोम को अवश्यमेव 'ऋत सोम' कहा जासकता है। भास्वरसोम (चन्द्रमा) जहां अपने सकेन्द्रपिण्ड भाव से प्रत्यक्षदृष्ट है, वहां दिक्सोम अपने अकेन्द्र अशरीर भाव से अप्रत्यक्ष है। सम्पूर्ण खगोल में एकरूप से यह 'ऋतसोम' व्याप्त है, जिसका 'ओस के पानी' से भलीभांति अनुमान लगाया जासकता है। सूर्य्यसत्तात्मक दिन में, सूर्य्याभावात्मिका रात्रि में सदासर्वदा यद्यपि आन्तरिक्ष्य ऋतसोम अजस्ररूप से भूपिण्ड की ओर प्रत्यावित होता रहता है। तथापि पृथिवी में इस की भुक्ति रात्रि में ही होती है। दिन में सौररश्मिगत सोमप्रिय इन्द्रप्राण इसे अपना अन्न बना लेता है। रात्रि में जो ओस का पानी यत्र तत्र सर्वत्र उपलब्ध होता है, वह सूर्योदय से पूर्व पूर्व ही अपनी सत्ता पृथिवी पर रखता है। उदित सूर्य इसे रश्मियों से अपना ग्रास बना लेता है। प्रत्यक्षदृष्ट यह ओस का पानी आन्तरिक्ष्य प्राणात्मक दिक्सोम का ही पार्थिव भौतिक अग्निमिश्रित भौतिकरूप है। तात्पर्य्य-कहने का यही है कि आन्तरिक्ष्य वायु में ऋतसोममात्रा प्रतिष्ठित रहती है। भूपिण्ड, सूर्य्यपिण्ड, दोनों से ही अग्निमात्रा प्रवर्ग्यरूप से निकल कर आन्तरिक्ष्य वायुपरावृत में उसी ऋतभाव से रहती है। आकाश में यदि चन्द्रमा सत्यसोम पिण्ड है, तो पूर्वोक्तलक्षणानुसार सूर्य्य सत्याग्निपिण्ड है। सत्याग्निमय सूर्य्यपिण्ड के केन्द्र से 'सहस्रधा-महिमान' सहस्रम् रूप से चारों ओर, सब ओर विनिःसृत रश्मियों में से प्रतिक्षण अग्निमात्रा प्रवर्ग्यरूप से निकलती रहती है। यही गर्मी तो सूर्यास्त होजाने पर भी वायु में प्रवाहित होती हुई हमें उपलब्ध होती है। यह वाय्वाग्नि भी पूर्वलक्षणानुसार 'ऋताग्नि' कहलाता है।

क्या आन्तरिक्ष्य सत्यसोमात्मक चन्द्रपिण्ड से उसी प्रवर्ग्यद्वारा सोममात्रा निकलकर वायु में व्याप्त नहीं होती ? होती है और अवश्य होती है। चन्द्रमा से निकल कर अन्तरिक्ष में व्याप्त होने वाली सोममात्रा ही तो पार्थिव भुक्तिद्वारा

ओषधियों का पोषण करती है। एवमेव सूर्य्य से निकलकर अन्तरिक्ष में व्याप्त रहने वाली अग्निमात्रा ही तो पार्थिवमुक्तिद्वारा वनस्पतियों का पोषण करती है। क्या ओषधियों में अग्निमात्रा, क्या वनस्पतियों में सोममात्रा नहीं रहती ?, रहती है, और अवश्य रहती है। दोनों में दोनों की भुक्ति है। केवल स्थिति में तारतम्य है। अग्निमात्रागर्भिता सोमामात्रा जहाँ ओषधियों निम्माण करती है, वहाँ सोममात्रागर्भिता अग्निमात्रा से वनस्पतियों का स्वरूप निम्माण होता है। दूसरे शब्दों में ओषधियों में चान्द्रसौम्यप्राण की, वनस्पतियों में सौर-आग्नेयप्राण को प्रधानता है। चन्द्रमा, सूर्य्य, दोनों क्रमशः सत्यसोम–सत्याग्निपिण्ड हैं। सत्यसोमपिण्डात्मक चन्द्रमा से विनिर्गत वायव्य ऋतसोम की सजातीय भावा नुबन्ध से सौम्य उत्तराकाश में प्रधानता रहती है। सत्याग्निपिण्डात्मक सूर्य्य से विनिर्गत वायव्य ऋताग्नि की आग्नेय दक्षिणाकाश में प्रधानता रहती है। ऋताग्नि दक्षिण से उत्तर की ओर निरन्तर आया करता है, तो ऋतसोम उत्तर से दक्षिण की ओर निरन्तर आया करता है। दक्षिण से उत्तर की ओर जाने वाले ऋताग्नि में उत्तर से दक्षिण की ओर ओर आने वाले ऋतसोम की आहुति होना अनिवार्य्य है। इसी आहुति से ऋताग्नि ऋतसोम के रासायनिक सम्मिश्रणात्मक याग—सम्बन्ध से, चितिसम्बन्ध से अन्तर्य्याम सम्बन्ध से उस उभयात्मक अपूर्वभाव का जन्म होता है, जिसे ऋताग्निसोम के सम्बन्ध से ही 'ऋतु' कहा जाता है।

इस प्रकार यद्यपि ऋतु में अग्नि–सोम दोनों का ही समन्वय है, तथापि एक विशेषदृष्टिकोण के अनुरोध से हम इसे अग्निप्रधान ही कहेंगे। सौरप्रवर्ग्याग्नि से युक्त पार्थिव अग्नि की ह्रासवृद्धि होती है। ऋतसोम की ह्रास–वृद्धि अस्वाभाविक है। प्रतिसंचर (लय) अवस्था में अग्नि अवश्य आप (सोम) रूप में परिणत होजाएगा परन्तु–'यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्' सिद्धान्तानुसार नित्या काशानुगत नित्यवायव्य ऋतसोम परम प्राणरूप से सदा अक्षुण्ण बना रहेगा। सोम के इसी नित्य धर्म्म को लक्ष्य में रखते हुए वैज्ञानिकों ने इस की ह्रास–वृद्धि नहीं मानी है। 'ऋतं सत्यंत्रितं तिष्ठन् –'ऋत भूमिरियं श्रिता' इत्यादि अथर्वश्रुतिसिद्धा न्तानुसार व्यापक, सत्यपिण्डाधारभूत ऋतनाम को प्रतीयमान ह्रास–वृद्धि वस्तुतः पार्थिव ऋताग्नि की ही ह्रास–वृद्धि है। सोम स्वस्वरूप से एकरस ही है। अतएव वसन्तादि षड्ऋतुओं के निर्वचन में–'अग्निकणा वसन्तो भवन्ति, अतिशयेन प्रदा धान्गृह्णाति अतिशयेन तत्र, अग्निकणा शीता भवन्ति, हीनत्वं गता भवन्ति, पुनः पुनस्तरायेन शीता भवन्ति' इत्यादिरूप से अग्निकणों का ही उद्गाम निगाम (च

ढाव-उतार) बतलाया जाता है। तत्त्वतः, ऋतग्नि ही स्वोद्भाव-निभाम से ऋतु-रूप में परिणत होता है। इसी आधार पर श्रुति का सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ है कि—"अग्नयो वा ऋतवः"—"अग्नयो देवे मदेवाभिवत-मग्निश्चित"—(शत० ६/२/१/३६)।

प्रकृतमनुसरामः। पार्थिवअग्नि भी सौर अग्निवत् सत्य, ऋत, भेद से दो भागों में विभक्त है। भूकेन्द्र से जब पार्थिव यह अङ्गिरो अग्नि, जो नियतपथ से सर्वथा ऋजुभाव से 'अग्नो न देववाहन' इत्यादि मन्त्रवर्णनानुसार अश्वस्वरूप में परिणत होता हुआ द्युलोक की ओर जाया करता है, सत्याग्नि है। इस सत्याग्नि से पार्थिव वर्षा का कोई उपकार नहीं होता, प्रत्युत अपकार होता है। जाता हुआ यह सत्याग्नि तो हव्यवाहन है, पार्थिव रसमात्राओं को स्वगर्भ में प्रतिष्ठित कर द्युलोकस्थ सावित्रमाणाग्निमय सौर देवताओं में आहुति देने वाला है, पृथिवी के पानी को द्युलोक में बरसाने वाला है। इसी सत्याग्नि के लिए—'अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति' इत्यादि कहा गया है। दूसरा है—ऋतलक्षण पार्थिव अग्नि। भूप्रदेश से सर्वत्र ऊष्मा (गर्मी) निकलती रहती है। कूपादि गर्तों (गड्ढों) में इस ऊष्मा का प्रत्यक्ष किया जा सकता है। इसका कोई नियत पथ नहीं है। अपितु अनियमितरूप से (ऋतरूप से) यह सब ओर से निकला करती है। ऋतधर्म्मा ऊष्मात्मक यह पार्थिव ऋताग्नि ही आन्तरिक्ष्य पानी के आकर्षण का कारण बनता है। जबतक यह ऊष्मा चरमसीमा पर नहीं पहुँच जाती, तबतक पानी नहीं बरस सकता।

सूर्यकिरण से सत्याग्नि द्वारा द्युलोक में पहुँचने वाली जलमात्रा सूर्यरश्मिच्छिन्न वायुधरातल पर प्रतिष्ठित रहती है। इस आन्तरिक्ष जलमात्रा में आन्तरिक्ष्य ऋत-दिक्सोम का समावेश होता है। श्रद्धा का रूपान्तर यह सोम ही उस जलमात्रा का पोषण करता है। आन्तरिक्ष्य पर्जन्य वायु, पार्थिव ऋताग्निलक्षण ऊष्मा से उत्पन्न धूमात्मक वाष्प, और सज्योतिः युक्त ज्योतिर्भाव अन्तरिक्षयुक्त पार्थिव जलमात्रा इन सब (वायु, धूम ज्योति, सलिल) तत्त्वों के समन्वय से अन्तरिक्ष में जो अपूर्व भौतिक पदार्थ उत्पन्न होता है, वही 'अभ्र' कहलाता है। अप्-(जल) को अपने गर्भ में रखने के कारण ही 'धूम-ज्योति-सलिल-मरुतां'-समन्वय लक्षण वह अपूर्वभाव-'अभ्र' कहलाया है। 'अभ्र' केवल अभ्र है, जलधारण करने वाला मात्र है। इस से वृष्टि नहीं होगी। वृष्टि होती है—'मेघ' से। जलकोशात्मक बादल अभ्र है जलवर्षक बादल अपने मेहन धर्म्म से मेघ है। जब तक बादल में आत्मसो-

जाता है। सप्तवर्ण (रङ्ग) का कारण एकमात्र येही सूर्यरश्मियाँ हैं, जिन के प्रतिफलन से वायुगर्भित आपोमय धनुष्पदरातल सप्तवर्णात्मक बन जाता है। बीच धरातल में संसृष्ट रश्मियों का उसी प्रकार वक्रीभाव हो जाता है, जैसे—पानी में सीधी भी प्रविष्ट लकड़ी अधूगर्भ में वक्रित प्रतीत होने लगती है, जिसका त्रिभुजाकार-दर्पणखण्ड में भी प्रत्यक्ष किया जासकता है। यही वक्रप्रक्रिया 'स्तम्भन' नाम से व्यवहृत हुई है। स्तम्भन से रश्मिमुक्त सप्तवर्णकत्रसमष्टिरूप श्वेतवर्ण का विश्लेषण हो जाता है, एक एक-सात पर्व होजाते हैं। यही सप्तवर्ण प्रतीति का मूलकारण है। पर्जन्य-आप्य-वायुपरातल इसी रश्मि-स्तम्भन से सप्तवर्णात्मक इन्द्रधनुष का जनक बनता है। रश्मिमुक्त प्राण ही इन्द्र है। इसी सम्बन्ध से यह धनुष तन्नाम से व्यवहृत हुआ है। पर्जन्यात्मक इन्द्रधनुष वृष्टि-रश्मिभावात्मक बनता हुआ आत्मविरोधी है। अतएव उपन्त-धर्मशास्त्र-आदि सूत्रों की भाँति इन्द्रधनुष्दर्शन का भी निषेध हुआ है। इन्द्रधनुष के पर्जन्यात्मक इसी तात्त्विक स्वरूप का विश्लेषण करते हुए ऋषि ने कहा है—

माया वां मित्रावरुणा दिवि श्रिता सूर्यो ज्योतिश्चरति चित्रमायुधम्।
तमभ्रेण वृष्ट्या गूहथो दिवि पर्जन्य द्रप्सा मधुमन्त ईरते॥

—ऋक्सं० ५।६३।४।

वृष्टि से पहिले जो आप्य वायु प्रवाहित होता है, वही 'पुरोवात वायु पर्जन्य' है। यही प्रतीच्य भाषा में 'मान्सून' कहलाता है। यही पर्जन्यवायु-'वायुर्वै वृष्ट्या ईष्टे' के अनुसार जलजनक माना गया है। पर्जन्यवायु करता क्या है ?, इस प्रश्न का उत्तर है—अपत्रयी की प्रवृत्ति। वायुप्रेरणा से पार्थिवाग्नि से विनिर्गत धूम (वाष्प) आन्तरिक्ष सलिलमात्रा-रश्मिगत तमोमात्रा-सहकृत घनभाव में परिणत हो जाता है। एस घन-धूम जब तक त्रिस्तरात्मक नहीं बन जाते, तब तक वृष्टि नहीं होसकती। सब से ऊपर का यथाश्रद्ध आन्तरिक्ष शीतधर्मा सोमागमन का निरोधक बनता

* [illegible] सम्प्रदायानुगत [illegible]-परिज्ञान का प्रथम श्रेय भारतीय महर्षियों को मिलना चाहिए था। यद्यपि [illegible] हमारे अन्तस्तल में यह श्रेय आज सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक 'न्यूटन' को मिल रहा है। कहा जाता है—न्यूटन ने ही [illegible] यह प्रमाणित किया कि [illegible] में अनेक रङ्गों का समन्वय है, जब कि [illegible] महर्षियों ने 'न्यूटन' से सहस्रों वर्ष पहिले पूर्णरूप से [illegible], एवं प्रमाणित कर दिया था—[illegible] में यह बात।

है। अम्भ का स्तर अपरिमित स्तर की स्वम्भती बनता है। सर्वांशतः स्तर (अभ्र), जिस में जलमात्रा भरी हुई है, पार्थिव ऊष्मा के सम्पर्क से च्युत होता हुआ पर्जन्य मौसम से बरस पड़ता है। पर्जन्य का सञ्चार होता है—यज्ञाग्नि के द्वारा—"धूमाद्भवति पर्जन्यः"। पार्थिव अग्निजनित धूम ही तो पर्जन्यात्मक मेघ का जनक बनता है। इसी लिए तो पर्जन्य विष्णुरूप से भी उपस्तुत है (देखिए-महाभारत—१।६४।४४)। यज्ञाग्निद्वारा उत्पन्न इसी पर्जन्यविज्ञान को लक्ष्य बना कर श्रुति कहती है-

"'तपो वा' इति। अग्नेर्वै धूमो जायते, धूमादभ्रम्, अभ्राद्वृष्टिः।
अग्नेर्वा एता जायन्ते। तस्मादाह 'तपो वा' इति"॥
—शत० ब्रा० ५।३।५।१७।

उक्त पर्जन्य-विज्ञान को लक्ष्य में रखते हुए ही ब्राह्मण की १८ वीं कण्डिका का समन्वय कीजिए। पर्जन्यद्वारा उत्पन्न मेघस्तरों से सोम का तिरोध होजाता है। फलस्वरूप पार्थिव ऊष्मा को प्रबुद्ध होने का अवसर मिल जाता है। ग्रीष्म-ऋतु के निदाघात्मक मधुप्रकाशानुभव स भी पार्थिवाग्नि अपेक्षाकृत प्रबल रहता है। यह प विशेषेन उष्माधापन्ना ऊष्मा (उमस) ही तो वर्षा की जननी बनती है, जिसका श्रेय परम्परया पर्जन्य को ही प्राप्त है। 'ओमायप' इत्याकारक देवभाग (आग्नेय प्राण) के सम्बन्धरूप आह्वान से पुरोवात (पर्जन्य) का प्रादुर्भाव होगया। 'अ स्तुभीयत्' इत्यादि देवभावसम्बन्ध से पर्जन्य व्यापार-द्वारा-धूम जनित अभ्रस्तरों से आकाश छागया। अब आगे चलकर वर्षा से पहिले विद्युत्, स्तनयित्नु, ये धर्म और उत्पन्न होते हैं।

पुरोवात के द्वारा आकाश में समुत्थापित अभ्रों के पारस्परिक संघर्ष से ही विद्युत् (ज्योति), और स्तनयित्नु (शब्दध्वनि) उत्पन्न होती है। श्रुति ने प्रथम स्थान विद्युत् का रक्खा है, द्वितीय स्थान स्तनयित्नु का माना है। इस का एकमात्र कारण दृश्यस्थिति ही है। हमें पहिले-विद्युत् प्रतीति होती है, अनन्तर शब्दध्वनि सुनाई पड़ती है। वस्तुतः स्थिति यह है कि, पहिला स्थान स्तनयित्नु (ध्वनि) का है, दूसरा स्थान विद्युत् का है। प्रत्यक्ष में देखिए। एक रजक सरोवर के इस ओर पर खड़ा हुआ शिला पर वस्त्र फटकारता है। हम इस क्रिया का सरोवर के उस ओर पर खड़े हुए साक्षात्कार कर रहे हैं। फटकार के साथ ही ध्वनि का आविर्भाव होता है। ध्वनि संघर्षसहजन्मा है। परन्तु प्रतीति ध्वनि की होती है, संघर्ष (फटकार) के कुछ काल पीछे। वायु के सहयोग से संघर्षजनित अग्निव्यापार के द्वारा

मात्मक वृत्रप्राण के सहयोगी वृष्ट्यवरोधक 'नमुचि' (न मुञ्चति जलम्) प्राण का प्राधान्य रहता है, तब तक वह बरस 'अभ्र' कहलाता है। अन्तरिक्षवर्त्ति सूर्य रश्मियाँ और इन्द्रतत्त्व के वज्र हैं। इस दिव्य इन्द्र के वज्रप्रहार से (परिगत आग्नेयप्राण के समावेश से), तथा पार्थिव ऊष्मानुगत वासव इन्द्र के व्यापार से (पार्थिव ऊष्मा के समावेश से) जब अवरोधक 'नमुचि' प्राण का मन्थिबन्धन टूट जाता है, तभी वह अभ्र 'मेघ' रूप में परिणत होकर वृष्टि करता है। इस प्रकार द्युलोकस्थ मघवेन्द्र, भूलोकस्थ वासवेन्द्र के वज्रप्रहार से नमुचि असुर का जब शिर-च्छेद हो जाता है, तभी वृष्टि होती है। निम्न लिखित मन्त्र इसी रहस्य का विश्लेषण कर रहा है—

(१)—"अपां फेनेन नमुचेः शिर इन्द्रोदवर्त्तयः ।
विश्वा यदजयः स्पृधः ।" ऋक्सं० ८।१४। ३।

(२)—"इन्द्रश्च ह नमुचिश्चासुरः समदधातां न नौ नक्तमन्न दिवाहनन्नार्द्रेण न शुष्केणेति। तस्य व्युष्टायामनुदित आदित्येऽपां फेनेन शिरोऽच्छिनत्"—ताण्ड्यमहाब्रा० १२।६।८।

पार्थिव ऊष्मा नीचे से ऊपर जा रही है। ऊपर अन्तरिक्ष में वायुभरातल में अम्भात्मक वारिदलों (बादलों) में जल भरा हुआ है। जब पार्थिव ऊष्मा वहाँ पहुँच रही है, तो इसके वृत्रात्मक-वरुणप्राण धर्म से अवश्य जल बरस क्यों नहीं पड़ता? यह एक प्रश्न है। वैज्ञानिक समाधान करते हैं कि, यह ठीक है कि—पार्थिव अग्नि (ऊष्मा) ऊपर जा रहा है। परन्तु साथ साथ ही आन्तरिक्ष्य दिव्यसोम पृथिवी की ओर आ भी तो रहा है। जितनी मात्रा में ऊष्मा (गर्मी) ऊपर जाती है, उतनी ही मात्रा से सोम (सर्दी) नीचे आ रहा है। सममात्रा से आने वाले सोम के सम्बन्ध से तन्मात्रासमतुलित पार्थिव अग्नि का वरुण-धर्म शान्त हो जाता है। फलस्वरूप आन्तरिक्ष्य अभ्र मेघस्वरूप में परिणत नहीं होने पाते, अतएव वृष्टि नहीं होती।

आवश्यक यह है कि आते हुए शीतगुणक आन्तरिक्ष्य जलसोम के, तथा जाते हुए पार्थिव अग्नि के मध्य में किसी ऐसे मध्यावरण का समावेश होना चाहिए जो आन्तरिक्ष्य सोमबल को अपने ऊपर अवरुद्ध कर दे। उस अवस्था

में पार्थिव-ऊष्मावश एक तो आमावरोध से प्रबल हो जायगा, दूसरे मध्यावरण जनित संकोच से भी इसे बल मिलेगा। परिणाम स्वरूप उभयबल के समावेश से अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचती हुई यह ऊष्मा अवश्य ही सौर इन्द्र के सहयोग से अभ्र को अप रूप में परिणत कर देगी, 'अग्नेरापः' सिद्धान्त चरितार्थ हो जायगा, पानी बरस पड़ेगा।

समाधान सामयिक है। परन्तु इस मध्यावरण का जन्मदाता कौन बने ?, प्रश्न का उत्तर एकमात्र पाठकों का सुपरिचित 'पर्जन्य' वायु ही है। पालन-पूर्णार्थक 'पृ' धातु ('पृ' पालनपूरणयोः-जु० प० स०) से, अथवा तो सेचनार्थक 'पृषु' धातु ('पृषु' सेचने-भ्वा०प० से०) से (उणा० ३।१०३ द्वारा-'पर्षति' निर्वचन से) 'पर्जन्य' शब्द निष्पन्न हुआ है। पर्जन्य उस व्यापक वायुविशेष का नाम है, जिस का स्वरूप आप्यमायात्मक सौररश्मिगर्भित इन्द्र से सम्पन्न हुआ है। अतएव इन्द्र को भी पर्जन्य कहा जा सकता है। 'पर्षति-सिञ्चति-मेघसञ्चयद्वारा वृष्टिं ददाति' से मेघसञ्चयद्वारा जल बरसाने वाला इन्द्रमायागर्भित पुरोवात आप्य-वायुविशेष ही 'पर्जन्य' है। 'पर्जन्यो मेघशब्देऽपि, ध्वनदम्बुद-शब्दयोः' (विश्वकोश)-'पर्जन्यौ रसदब्देन्द्रौ' (अमर) इत्यादि कोशवचन भी इसी निर्वचन का समर्थन कर रहे हैं। ऋक्संहिता के ५ मण्डलान्तर्गत दशमन्त्रात्मक 'अच्छावद' सूक्त में पर्जन्य के इसी वैज्ञानिक स्वरूप का विश्लेषण हुआ है। वहाँ बतलाया गया है कि पुरवाई हवा का चलना वर्षणानुकूल गर्जन-तर्जन, वृष्टिपात, आदि सभी वृष्टिकर्म इसी पर्जन्य पर अवलम्बित हैं। जिस समय अपने गर्जन-तर्जन के साथ पर्जन्यदेवता समाम अवकाश में मेघरूप से व्याप्त होते हुए शब्दायमान बनते हैं, उस समय सम्पूर्ण पार्थिव चर-अचर प्रजावर्ग में एक प्रकार का उल्लास छा जाता है। देखिए—

यत् पर्जन्य कनिक्रदत् स्तनयन् हंसि दुष्कृतः।
प्रतीदं विश्वं मोदते यत्किं च पृथिव्यामधि॥ ऋक्सं० ५।८३।९।

यस्य व्रते पृथिवी नन्नमीति यस्य व्रते शफवज्जर्भुरीति।
यस्य व्रत ओषधीर्विश्वरूपाः स नः पर्जन्य महि शर्म यच्छ॥

ऋक्सं० ५।८३।५।

सुप्रसिद्ध इन्द्रधनुष की उत्पत्ति का प्रधान कारण भी यही पर्जन्य वायु है। दृष्टि से ओझल, अथवा तो पीछे आकाश में सप्तवर्णात्मक 'धनुष' का प्रत्यक्ष किया

उत्पन्न शब्द–सरोवर प्रदेश में व्याप्त आप्यवायु-वीचियों (लहरों) के आधारपर प्रतिष्ठित होकर ही श्रोत्रेन्द्रिय पर आता है। यही इसके आगमन-विलम्ब का कारण है। जलकणसमिमित वायु से अग्निमयी शब्दध्वनि अवरुद्धवीर्या बन जाती है। एवमेव सुशुण्डी (तोप) छूटने पर पहिले चमक दिखलाई पड़ती है, अनन्तर शब्द सुना जाता है। विद्युत् में तीव्रगति है, शब्द वायु-स्तराकर्षण से मन्दगति है। अतएव पहिले भी उत्पन्न शब्द विलम्ब से सुनाई पड़ता है पीछे भी उत्पन्न, किंवा साथ ही उत्पन्न विद्युत् तत्काल प्रतीत होजाती है। ठीक यही स्थिति यहाँ समझिए। दृश्यस्थिति कुछ भी हो, वस्तुस्थिति यही है कि, पहिले संघर्ष से शब्द, (स्तनयित्नु), अनन्तर ज्योति (विद्युत्) उत्पन्न होती है।

१ पूर्व में मेघ के तीन स्तर बतलाए गए हैं। यह त्रित्व स्थूल मान है। वस्तुतः आकाशस्थ सप्तमरुत्-स्तरों के कारण मेघ के भी सात ही स्तर होते हैं। मध्य-मध्यस्थ वायुस्तरों के-निर्गमन से ही मेघस्तरों का परस्पर संघर्ष होता है, इसी संघर्ष से विद्युत् उत्पन्न होती है, इसी संघर्ष से-'वायुः खात्, शब्दस्ततः' इत्यादि प्रातिशाख्य सिद्धान्तानुसार स्तनयित्नु (शब्द–गर्जन) उत्पन्न होती है। मेघस्तरों का उच्चावच जैसा आकार होता है, तत्संघर्ष से उत्पन्न विद्युत्—स्तनयित्नु की भी तत्सदृश ही उच्चावच आकृतियाँ रहती हैं। मध्यस्तरसंघर्ष से उत्पन्न विद्युत्-स्तनयित्नु अधोऽवस्थित मेघस्तरावरण में दृष्टि–श्रुति का विषय नहीं बनती। उन का मेघ स्तर प्रदेशों में ही लय होजाता है। अधोऽवस्थित तीन स्तरों के पारस्परिक संघर्ष से उत्पन्न वि० स्त० का ही प्रत्यक्ष, एवं अनुभव हुआ करता है। सर्वोपरिस्थ मेघस्तर, एवं द्वितीय (मध्यस्थ) मेघस्तर के मध्यस्थ वायु के निकल जाने से सर्वोपरिस्थ स्तर मध्यस्थ स्तर पर गिर पड़ता है। संघर्ष हो पड़ता है। इस मध्यम संघर्ष से उत्पन्न वि० स्त० की मात्र एकमात्र प्रतीति होती है। साथ ही सर्वाध स्थित तृतीय मेघस्तरावरण के कारण इस विद्युत् का भूपृष्ठ पर पात भी नहीं होता। यदि संघर्ष आत्यन्तिक होता है, तो यह भी गिर पड़ती है। परन्तु सर्वाधः स्थित मेघस्तर के संघर्ष से जो विद्युत् उत्पन्न होती है, वह अवश्यमेव भूगर्भ में आ ठहरता है।

संघर्ष से उत्पन्न ज्योतिर्भाग संघर्ष के तारतम्य से उसी प्रकार कभी कभी वज्र उल्का आदि की भी उत्पत्ति हो जाया करती है, जैसे कि आन्तरिक्ष्य ज्योतिर्पथाधारात् (४६) मरुतों के पारस्परिक संघर्ष से वज्र, उल्का, धिष्ण्या, तारा ये चार प्रकार के ज्योतिःपुञ्ज उत्पन्न होते रहते हैं। दृगागमविज्ञान के अनुसार जैसे

भूगर्भ में पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण-ईशान-नैर्ऋत्य-आग्नेय-वायव्यादि दिक्-प्रतिदिक् से क्षार-मधुर-तिक्तादि जलस्रोत प्रवाहित रहते हैं, एवमेव आकाश में दिक्-प्रतिदिक् भेद से तीव्रवेग के साथ वायुस्तर प्रवाहित हैं। कल्पना कीजिए, एक वायुस्तर तीव्र वेग से पूर्व से पश्चिम की ओर आरहा है, दूसरा उसी वेग से पश्चिम से पूर्व की ओर। यदि दोनों का गमनागमन मार्ग विभिन्न है, तो शान्ति है। यदि दोनों के प्रान्तभागों का भी स्पर्श होजायगा, तो संघर्ष से ज्योति उत्पन्न होजायगी। यत्किञ्चित्-सम्पर्कमात्र से उत्पन्न यही क्षुद्रज्योति 'तारा' है। यदि संघर्ष में अक्षा विक्य है, तो ज्योति प्रवृद्ध है। यही सामान्यज्योति 'धिष्ण्या' है। यदि दोनों के प्रान्त भाग एक दूसरे से आक्रान्त (दब) होजाते हैं, तो अतिशयत्वेन प्रवृद्ध ज्वाला उत्पन्न हो जाती है। साथ ही प्रान्तभागाक्रान्ति के अनुपात से यही दूरतक वह प्रकाशपुञ्ज जाता हुआ प्रतीत होता है, जिस का आकार पुच्छसम माना गया है। यही 'उल्का' है। यदि दुर्भाग्य से दोनों वायुस्तरों के मार्ग अभिन्न हो जाते हैं, दोनों का सर्वात्मना संघर्ष हो पड़ता है। इस संघर्ष से भयानक प्रतिध्वनि के साथ जो ज्योतिःपुञ्ज पृथक् होकर अपने आत्यन्तिक वेग से भूपृष्ठ पर आकर ठहरता है, वही 'वज्र' कहलाया है। साथ ही अधःप्रदेशस्थ वायुस्तर मार्गावरोध होने से भूपिण्ड की ओर अनुगत होता हुआ कम्पन, भूगर्तादि में प्रविष्ट होकर तदवच्छिन्न भूप्रदेश को कम्पित कर देता है। यही सुप्रसिद्ध आग्नेय वारुण (आप्य), ऐन्द्र (मह), वायव्य, चतुर्विध भूकम्पों में से चौथा वायव्य भूकम्प कहलाया है। पुरोवात, अभ्र, विद्युत् स्तनयित्नु, वर्षा इस क्रम से वृष्टिकर्म में (जलवर्षक मेघों में) इन पांचों का रहना अनिवार्य्य है। त्रिस्वर ही इस पञ्चावयव मेघ-सत्ता का कारण है। ऐसा मेघ नियमेन कृष्णवर्ण होता है। क्यों कि ऊर्ध्व-स्तरों के आवरण से सौर प्रकाश आत्यन्तिकरूप से अवरुद्ध हो जाता है। इसी आधार पर श्रुति ने कहा है—"धामच्छदिव खलु वै भूत्वा वर्षति (तै० सं० २।४।१०)—"कृष्णो भवति। एतद्वै वृष्टेः रूपम्"—(तै० सं० २।१।८)। पारमेष्ठ्य आप्य प्राण अप्सरामय है, आप्य वायव्य प्राण गन्धर्व है। अतएव वर्षाऋतु कामभाव की प्रतिष्ठा मानी गई है। गन्धर्व प्राण के सम्बन्ध से सङ्गीत की भी मूलप्रतिष्ठा यही है। 'वर्षा हि—सब गन्धर्व" के अनुसार यही सम्वत्सर की भी प्रतिष्ठा है। भारतीय लोक कवियों में भी यथा

---

*-आयो भव बरषा रुत। (धू० प०)।

ओ (उ) स्फट कान्ति नरेस (व)।

अम्बाधर नग प्रमथ कौमी अन सब हरषत।

चमकन्त दामिनी पताक रूका मया मदनी रथ।

कृष्ण वरन मदुर मेघ गगन भरयो समन्तात (आपा०)।

का यही स्वरूप उपवर्णित है, जिस का कृष्णपर्जन्य, विद्युत्, स्तनयित्नु, आदि रूप से अब तक विश्लेषण हुआ है। यही वह प्रासङ्गिक वृष्टिविज्ञान है,जिस का प्रकृत आश्रावण-प्रत्याश्रावण कर्म्म के साथ निम्न लिखितरूप से समन्वय किया जारहा है।

बतलाया गया है कि, अभ्रसमाप्लावन के अनन्तर 'यज्ञ'—'ये यजामहे' इत्याकाराकारिता यजनानुमति, यजनप्रवृत्तियों से क्रमशः विद्युत्—स्तनयित्नु उत्पन्न हो जाती हैं। सर्वान्त में 'वौषट्' इत्याकारक यजनकर्म्मारम्भ के साथ साथ पानी बरसने लगता है। इस प्रकार प्राकृतिक यज्ञ के प्राणविध ऋत्विजों (प्राणदेवताओं) के पञ्चव्याहृत्यात्मक पञ्च कर्म्मों से वृष्टिकर्म्म सञ्चालित है। जिस यजमान को वृष्टि अपेक्षित हो, वह संख्या-सम्पत् से समतुलित 'ओश्रावय' 'अस्तु श्रौषट्'—'यज'—'ये यजामहे'-'वौषट्' इन पांच व्याहृतियों के प्रयोग काल में ऋत्विजों को क्रमशः 'पुरोवात'—'अभ्र'—'विद्युत्'—'स्तनयित्नु'—'वर्षाकर्म्म' इन पांच आधिदैविक वृष्टिकर्म्मावयवों के मानस संकल्प के लिए प्रेरित करे। *निरपेक्षेण इस भावनामात्र से वृष्टि होगी—'वर्षति हैव, यत्र—यत्रैवमृत्विज संविदाना यजेन चरन्ति'।* और—'यज्ञाद्भवति पर्जन्यः' वचन चरितार्थ होगा। ब्राह्मण की १८, १९, इन दो कण्डिकाओं में काम्यकर्म्मलक्षणा वृष्टि के द्वारा संक्षिप्त भाषा में इसी वृष्टिविद्या का दिग्दर्शन कराया गया है ॥ १८, १९, ॥

इति—वृष्टिविज्ञानम्

——— ॐ ———

आश्रावण-प्रत्याश्रावण कर्म्म वह महत्त्वपूर्ण कर्म्म है, जिस से आधिदैविक-आधिभौतिक-आध्यात्मिक, तीनों कामनाओं को परिपूर्ण किया जा सकता है। सम्वत्सरयज्ञसम्पत्ति आधिदैविकरूप है। इस के समष्टि, व्यष्ट्यात्मक दो विवर्त हैं। अहोरात्र-पक्ष-ऋतु-अयन सम्वत्सर, ये पांच एक सम्वत्सर की पांच व्यष्टियां हैं। स्वयं सम्वत्सर, और उसकी मूलप्रतिष्ठारूप समष्टयात्मक अग्नि, दोनों समष्ट्यात्मक सम्वत्सर है। पञ्चव्याहृतियों से व्यष्ट्यात्मिका सम्वत्सरसम्पत्ति का, पञ्चव्याहृतियों के सप्तदश अक्षरों से व्यष्ट्यात्मिका सम्वत्सर—सम्पत्ति का संग्रह करते हुए ऋत्विक् लोग पञ्चव्याहृत्यात्मक आ० प्र० कर्म्म से यजमान के मानुषयज्ञ को आधिदैविक सम्पत्ति से युक्त कर देते हैं, जिस का १६, १७, इन दो कण्डिकाओं में विश्लेषण हुआ है। अद्भुत नवव्याहृत्यात्मक सूर्यारोपण कर्म्म से देवात्मा में नव आध्यात्मिक के प्राणाधान द्वारा आध्यात्मिक—सम्पत्ति का संग्रह कर लिया जाता

भूगर्भ में पूर्व–पश्चिम–उत्तर–दक्षिण–ईशान–नैर्ऋत–आग्नेय–वायव्यादि दिक्–प्रदिक् से क्षार–मधुर–तिक्तादि जलस्रोत प्रवाहित रहते हैं, एवमेव आकाश में दिक्–प्रतिदिक् भेद से तीव्रवेग के साथ वायुस्तर प्रवाहित हैं। कल्पना कीजिए, एक वायुस्तर तीव्र वेग से पूर्व से पश्चिम की ओर जा रहा है, दूसरा उसी वेग से पश्चिम से पूर्व की ओर। यदि दोनों का गमनागमन भाग विभिन्न है, तो शान्ति है। यदि दोनों के प्रान्तभागों का भी स्पर्श होजायगा, तो संघर्ष से ज्योति उत्पन्न होजायगी। यत्किञ्चित्–सम्पर्कमात्र से उत्पन्न यही क्षुद्रज्योति 'तारा' है। यदि संघर्ष में थोड़ा विस्तार है, तो ज्योति प्रवृद्ध है। यही सामान्यज्योति 'विद्युत्' है। यदि दोनों के प्रान्त भाग एक दूसरे से आक्रान्त (दब) होजाते हैं, तो अतिशयस्त्रेया प्रवृद्ध ज्वाला उत्पन्न हो जाती है। साथ ही प्रान्तभागाक्रान्ति के अनुपात से वही दूरतक वह प्रकाशपुञ्ज जाता हुआ प्रतीत होता है, जिस का आकार पुच्छसम माना गया है। यही 'उल्का' है। यदि दुर्भाग्य से दोनों वायुस्तरों के भाग अभिन्न हो जाते हैं, दोनों का सर्वात्मना सघन हो पड़ता है। इस संघर्ष से भयानक प्रतिध्वनि के साथ जो ज्योति पुञ्ज पृथक् होकर अपने आत्यन्तिक वेग से भूपृष्ठ पर आकर ठहरता है, वही 'वज्र' कहलाता है। साथ ही अधःप्रदेशस्थ वायुस्तर मार्गावरोध होने से भूपिण्ड की ओर अनुगत होता हुआ कन्दरा, गुफादि में प्रविष्ट होकर तदवच्छिन्न भूप्रदेश को कम्पित कर देता है। यही सुप्रसिद्ध आग्नेय वारुण (आप्य), ऐन्द्र (भद्र), वायव्य चतुर्विध भूकम्पों में से चौथा वायव्य भूकम्प कहलाता है। पुरोवात, अभ्र, विद्युत्, स्तनयित्नु, वर्षा इस क्रम से वृष्टिकर्म में (जलवर्षक मेघों में) इन पाँचों का रहना अनिवार्य है। त्रिस्तर ही यह पञ्चात्मक मेघ-सत्ता का कारण है। ऐसा मेघ निरवयव कृष्णवर्ण होता है। क्योंकि ऊर्ध्व-स्तरों के आवरण से सौर प्रकाश आत्यन्तिकरूप से अवरुद्ध हो जाता है। इसी आधार पर श्रुति ने कहा है—"यामध्रविव खलु वै भूत्वा वर्षति' (तै॰ सं॰ १।४।१०)—"कृष्णो भवति। एतद् वृष्टेः रूपम्"—(तै॰ सं॰ २।१।८)। पारमेष्ठ्य आप्य प्राण अप्सरामय है, आप्य वायव्य प्राण गन्धर्व है। अतएव वर्षाऋतु कामभाव की प्रतिमा मानी गई है। गन्धर्व प्राण के सम्बन्ध से संगीत की भी मूलप्रतिष्ठा यही है। 'वर्षा हि–सर्व ऋतव' के अनुसार यही सम्वत्सर की भी प्रतिष्ठा है। भारतीय लोक कर्संगीतों में भी वर्षा

---

*—आपो भव वरणा रुद्र। (ग्र॰ द॰)।

ओ (उ) स्फट कान्ति नरेस (द्र)।

अम्भोधर नग प्रमत्त कामी जन सब हरषत।

चमकत दामिनी पताक छका भयो अशनी रव।

कृष्ण बरन मद्गुर मेघ गगन भरयो समन्तात (आपा॰)।

है, जिसे जानकर तद्भावनापूर्वक यथाविधि-प्रयाजात्मक कर्म्म करने वालों के लिए यह पार्थिव कामनाएँ पूरी हो जाती हैं ॥ २० ॥

इति—विवेचनाप्रकरणम् (६)

समाप्तञ्चेदं स्तुतब्राह्मणम् ।

———•———

*ख—प्रतृण्णपाठः (अर्थावबोधानुगतः)—

(अथ प्रथमकाण्डे पञ्चमाध्याये तृतीयं, चतुर्थप्रपाठके च चतुर्थं ब्राह्मणम्)

अथ त्रिब्राह्मणात्मके प्रयाजब्राह्मणे प्रथमं ब्राह्मणम्

१—प्रयाजबन्धुः

ऋतवो ह वै प्रयाजा । तस्मात् पञ्च भवन्ति, पञ्च हि ऋतवः ॥ (१) ॥ देवाश्च वा असुराश्च उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे—एतस्मिन् यज्ञे प्रजापतौ पितरि सम्वत्सरे—'अस्माकमयं भविष्यति, अस्माकमयं भविष्यति' इति ॥ (२) ॥ ततो देवा अर्चन्त श्राम्यन्तश्चेरुः, त एतान् प्रयाजान् ददृशुः, तैरयजन्त । तैर्ऋतून् सम्वत्सरं प्राजयन्, ऋतुभ्यः सम्वत्सरात् सपत्नानन्तरायन्, तस्मात् प्रजयाः । 'प्रजया.' ह वै नामैतत्—यत् 'प्रयाजा' इति । तथा एवैष एतैर्ऋतून्

---

* प्रस्तुत शतपथ-विज्ञानभाष्य में आरम्भ से 'निर्भुज' एवं 'प्रतृण्ण' पाठ के भेद से दो प्रकार के मूलपाठों का समावेश हुआ है। सस्वर-पारायणपाठ ही निर्भुज पाठ है। एवं अर्थावबोधात्मक अस्वर पाठ 'प्रतृण्ण' पाठ है। 'स्वर' चिह्न अभी हमें प्राप्त नहीं हो सके हैं। अतएव प्रस्तुत अङ्क में केवल 'प्रतृण्ण' पाठ का ही समावेश हुआ है। हाँ, अगले अङ्क में अवश्य निर्भुजपाठ का भी यथापूर्व समावेश होता रहेगा। सम्पादक—

है, जिसका ४ वीं कण्डिका में उल्लेख हुआ है। शेष रह जाता है—आधिभौतिक इष्ट फल।

आधिभौतिक इष्ट फल की प्राप्ति द्यौ (आकाश), और पृथिवी, इन दो विवर्त्तों से होती है। आकाशोपलक्षित पर्जन्यदेवता समय पर वृष्टि करते रहें (निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु), यही आकाशात्मक आधिभौतिक ऊर्ज्ज पर्व का अनुग्रह है। ब्राह्मण की १८, १९, इन दो कण्डिकाओं में इसी अनुग्रह का स्पष्टीकरण हुआ है। प्रस्तुत २० वीं कण्डिका में पृथिव्यनुगत आधिभौतिक अन्न पर्व के इष्टफल का दिग्दर्शन कराती हुई ही श्रुति कहती है कि, जिस प्रकार 'ओश्रावय' आदि पांच व्याहृतियों से प्राणदेवता पुरोवातादि के द्वारा वृष्टिकर्म्म का सञ्चालन कर रहे हैं, एवमेव इन्हीं व्याहृतियों से (व्याहृत्यात्मक देवाह्वान—प्रदान—आदान लक्षण यज्ञ से) ये विराड्गौरूपधरा पृथिवी का दोहन किया करते हैं।

दोहन कर्म्म में गौ का सामीप्य रखने वत्स को (पायसने के लिए) खोलना, वत्समुख का स्तन के साथ सम्बन्ध कराना बच्चे को हटाते हुए दोहनपात्र लेकर दोहने के लिए समग्र हो जाना, एवं दोहना, ये पांच पर्व हैं। पांचों व्याहृतियों का क्रमशः इन पांचों दोहनकर्म्म-पर्वों से क्रमिक सम्बन्ध है। पार्थिव अग्नि ही विराट् गौ है। इसी से पार्थिव अग्निहोत्र सञ्चालित है, जैसा कि, द्वितीयवर्षस्थ ग्रन्थ 'अग्निहोत्र ब्राह्मणविज्ञान' में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। पार्थिव प्राणाग्नि के ६-१५-२१ भेद से तीन विवर्त्त हो जाते हैं, जैसा कि पूर्व प्रकरणों में विस्तार से बतलाया जा चुका है। त्रिवृत् स्तोमानुगत पार्थिव अग्नि गार्हपत्य है, यह एक कक्षा है। पञ्चदशस्तोमानुगत आन्तरिक्ष्य (पार्थिव ही) अग्नि धिष्ण्य है। अन्तरिक्ष सापेक्षिक सर्पमाण के सम्बन्ध से यह चञ्चल है। एकविंशस्तोमानुगत दिव्य (पार्थिव ही) अग्नि आहवनीय है, यह एक कक्षा है। इस प्रकार स्तोमात्मिका महापृथिवी के पृथिवी—अन्तरिक्ष—द्यौरूप तीनो स्तोमलोकों के भेद से पार्थिव गौरूप अग्नि के १-८ १ भेद से १०प्रव हो जाते हैं। यही दशाक्षर विराट् अग्नि है। दशाक्षर विराट् छन्द से समतुलित होने से ही गौरूप पार्थिव अग्नि 'विराट्' कहलाया है। इसी के सम्बन्ध से पिण्ड (भूत) अग्निमय भूपिण्ड विराड् गौ कहलाया है। विराड् गौ का वत्स है—मातरिश्वा नामक वह भूवायु, जो अपने व्याप्ति, एवं सवरणधर्म्म से 'पशुपवराड' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। इसी वत्स (वायु) के सम्बन्ध से पुत्रवत्सल प्राणदेवता विराड्गौ का दोहन करने में समर्थ हुए हैं। वायु के द्वारा ही पार्थिव रसमात्राओं का वाहन होता है। यही विराड्गौ का दोह

है, जिसे जानकर तद्भावनापूर्वक आभावयो-प्रत्याभावया कर्म करने वालों के लिए यह पार्थिव कामनाएँ पूरी हो जाती हैं ॥ २० ॥

इति—विवेचनाप्रकरणम् (६)

समाप्तश्चेदं निर्भुजाख्यम् ।

●ख–प्रतृण्णपाठः (अर्थावबोधानुगतः)—

(अथ प्रथमकाण्डे पञ्चमाध्याये तृतीयं, चतुर्थप्रपाठके च चतुर्थं ब्राह्मणम्)

अथ त्रिब्राह्मणात्मके प्रयाजब्राह्मणे प्रथमं ब्राह्मणम्

१–प्रयाजबन्धुः

ऋतवो ह वै प्रयाजा । तस्मात् पञ्च भवन्ति, पञ्च हि ऋतवः ॥ (१) ॥ देवाश्च वा असुराश्च उभये प्राजापत्या पस्पृधिरे–एतस्मिन् यज्ञे प्रजापतौ पितरि सम्वत्सरे–'अस्माकमयं भविष्यति, अस्माकमयं भविष्यति' इति ॥ (२) ॥ ततो देवा अर्चन्त श्राम्यन्तश्चेरु, त एतान् प्रयाजान् ददृशुः, तैरयजन्त । तैर्ऋतून् सम्वत्सरं प्राजयन्, ऋतुभ्य सम्वत्सरात् सपत्नानन्तरायन् तस्मात् प्रजयाः । 'प्रजया.' ह वै नामैतद्–यद् 'प्रयाजा' इति । तथा एवैष एतैर्ऋतून्

● प्रस्तुत शतपथ–विज्ञानभाष्य में आरम्भ से 'निर्भुज', एवं 'प्रतृण्ण' पाठ के भेद से दो प्रकार के मूलपाठों का समावेश हुआ है । सस्वर–पारायणपाठ ही 'निर्भुज' पाठ है । एवं अर्थावबोधात्मक अस्वर पाठ 'प्रतृण्ण' पाठ है । 'स्वर' चिह्न अभी हमें प्राप्त नहीं हो सके हैं । अतएव प्रस्तुत खण्ड में केवल 'प्रतृण्ण' पाठ का ही समावेश हुआ है । हाँ आगत खण्ड से अवश्य निर्भुजपाठ का भी यथापूर्व समावेश होता रहेगा । सम्पादक—

सम्वत्सर प्रजयति, ऋतुभ्य सम्वत्सरात् सपत्नानन्तरेति, तस्मात् प्रयाजैर्यजते ॥ (३) ॥

ते वा आज्यहविषो भवन्ति । वज्रो वा आज्यम् । एतेन वै देवा वज्रेणाज्येन ऋतून् सम्वत्सर प्रजयति, ऋतुभ्य सम्वत्सरात् सपत्नान् अन्तरेति । तस्मादाज्यहविषो भवन्ति ॥ (४) ॥ एतद्वै सम्वत्सरस्य स्व पय –यत् 'आज्यम्' । तत् स्वेनैवैनमेतत् पयसा देवा स्वीकुर्वत । तथो एवैनमेष एतत् स्वेनैव पयसा स्वीकुरुते । तस्मादाज्यहविषो भवन्ति ॥(५)॥

स यत्रैव तिष्ठन् प्रयाजेभ्य आश्रावयेत् तत एव नाप कामेत् । सङ्ग्रामो वा एष सन्निधीयते–य प्रयाजैर्यजते । यतरो वै सयत्तयाः पराजयते, अप वै स क्रामति, अभित रामु वै जयन् क्रामति । तस्मादभितरामभितरामेव क्रामेत्, अभितरामभितरामाहुतीर्जुहुयात् ॥ (६) ॥ तदु तथा न कुर्यात् । यत्रैव तिष्ठन् प्रयाजेभ्य आश्रावयेत्–तत एव नापक्रामेत् । यत्रा एव समिद्धतमं मन्येत–तदाहुतीर्जुहुयात् । समिद्धहोमेन ह्येव समिद्धा आहुतय ॥ (७) ॥

२–उत्तरः प्रैष

स आश्राव्य आह—"समिधो यज" इति । तद् वसन्त समिद्धे । स वसन्त समिद्धो अन्यान् ऋतून् समिन्धे । ऋतव समिद्धाः प्रजाश्च प्रजनयन्ति, ओषधीश्च पचन्ति । तद्वै खलु सर्वानृतून् निराह । अथ "यज, यज"

इत्येव उत्तरानाह—अजामितायै। जामि ह कुर्यात्—यत् "तनूनपातं यज, इडो यज" इति ब्रूयात्। तस्मात्—'यज, यज' इत्येवोत्तरानाह॥(८)॥

३—प्रयाजब्राह्मणम्

स वै 'समिधो' (१) यजति। वसन्तो वै समित्। वसन्तमेव तद्देवा अवृञ्जत, वसन्तात् सपत्नान् अन्तरायन्। वसन्तमु—एवैष एतद् वृङ्क्ते, वसन्तात् सपत्नान् अन्तरेति। तस्मात् समिधो यजति॥ (९)॥ अथ 'तनूनपातं' (२) यजति। ग्रीष्मो वै तनूनपात्—ग्रीष्मो हि आसां प्रजानां तनूस्तपति। ग्रीष्ममेव तद्देवा अवृञ्जत, ग्रीष्मात् सपत्नान् अन्तरायन्। ग्रीष्ममु एवैष एतद् वृङ्क्ते, ग्रीष्मात् सपत्नान् अन्तरेति। तस्मात्तनूनपातं यजति॥ (१०)॥ अथ 'इडो' (३) यजति। वर्षा वा इडः। इति हि वर्षा इड—यदिदं क्षुद्रं सरीसृपं ग्रीष्महेमन्ताभ्यां नित्यक्तं भवति—तद् वर्षा ईडितमिव अमिच्छमानं चरति, तस्माद् वर्षा इडः। वर्षा एव तद् देवा अवृञ्जत, वर्षाभ्यः सपत्नान् अन्तरायन्। वर्षा उ एवैष एतद् वृङ्क्ते, वर्षाभ्यः सपत्नान् अन्तरेति। तस्मादिडो यजति॥ (११)॥ अथ 'बर्हिः' (४) यजति। शरद्वै बर्हिः। इति हि शरद् बर्हिः—या इमा ओषधयो ग्रीष्महेमन्ताभ्यां नित्यक्ता भवन्ति, ता वर्षा वर्द्धन्ते, ताः शरदि बर्हिषा रूपं प्रस्तीर्णाः शेरे—तस्मात् शरत् बर्हिः। शरदमेव

तद्देवा अवृञ्जत, शरदः सपत्नान् अन्तरायन् ॥ शरदमु एवै एतद् वृङ्क्ते, शरद सपत्नान् अन्तरेति । तस्माद् वर्हिर्यजति ॥ (१२) ॥ अथ 'स्वाहा–स्वाहा' (५) इति यजति । अन्तो वै यज्ञस्य स्वाहाकारः । अन्त ऋतूनां हेमन्तः वसन्ताद्धि परार्द्ध्यं । अन्तेनैव तदन्तं देवा अवृञ्जत, अन्तेन अन्तात् सपत्नान् अन्तरायन् । अन्तेनो एवैष एतद् अन्तं वृङ्क्ते, अन्तेन अन्तात् सपत्नान् अन्तरेति । तस्मात् स्वाहा स्वाहेति यजति ॥ (१३) ॥ तद्वा एतद् वसन्त एव हेमन्तात् पुनरसुः, एतस्माद्धयेष पुनर्भवति । पुनर्ह वा अस्मिन् लोके भवति, य एवमेतद् वेद । (१४) ॥

म वै 'व्यन्तु, वेतु' इति यजति–प्रजामितायै । जामि ह कुर्यात्–यद् 'व्यन्तु, व्यन्तु' इति वैव यजेत, 'वेतु, वेतु' इति वा । 'व्यन्तु'–इति वै योषा, 'वेतु'–इति वृषा, मिथुनमेवैतत् प्रजननं क्रियते । तस्माद् 'व्यन्तु, वेतु' इति यजति ॥ (१५) ॥

अथ चतुर्थे प्रयाजे समानयति वर्हिषि । प्रजा वै वर्हिः, रेत आज्यम् । तत् प्रजास्वेवैतद् रेत सिच्यते । तेन रेतसा सिक्तेन इमा प्रजाः पुनरभ्यावर्त्तं प्रजायन्ते । तस्मात् चतुर्थे प्रयाजे समानयति वर्हिषि ॥ (१६) ॥ सङ्ग्रामो वा एष सन्निधीयत–य प्रयाजैर्यजत । यतरं वै संयत्तयोर्मित्रभागच्छति स जयति । तदतत्–उपभृतोऽधि जुहू मित्रमागच्छति, तन प्रजयति । तस्मात् चतुर्थे प्रयाजे समानयति वर्हिषि ॥ (१७) ॥ यजमान एव जुहूमनु, योऽस्मा अराती

यति-स उपभृतमनु । यजमानायैवैतद् द्विपन्त भ्रातृव्य वलिं हारयति । अत्रैव जहूमनु आद्य उपभृतमनु । अत्र एवैतद् आद्य वलिं हारयति । तस्मात् चतुर्थे प्रयाजे समानयति ॥ (१८) ॥ स वा अनवमृशन् समानयति । स यद्ध अवमृशेत्-यजमानं द्विपता भ्रातृव्येन अवमृशेत्, अत्तारमाद्येन अवमृशेत् । तस्मादनवमृशन् समानयति ॥ (१६) ॥ अथ उत्तरा जुहूमभ्यूहति । यजमानमेवैतद् द्विपति भ्रातृव्येऽभ्यूहति, अत्तारमाद्येऽभ्यूहति । तस्मादुत्तरां जुहूमभ्यूहति ॥(२०)॥

देवा ह वा ऊचुः-हन्त विजितमेवानु सर्वं यज्ञ संस्थापयाम, यदि नोऽसुररचसन्यामजेयु -'संस्थिते एव नो यज्ञः स्यात्' इति ॥ (२१) ॥ त उत्तमे प्रयाज स्वाहाकारेणैव सर्वं यज्ञ समस्थापयन् । 'स्वाहाग्निम्' इति तदाग्नयमाज्य भाग समस्थापयन् । 'स्वाहा सोमम्' इति तत् सौम्यमाज्य भाग समस्थापयन् । 'स्वाहाग्निम्' इति- तद्य एप उभयत्राच्युत आग्नेय पुराडाशा भवति-त समस्थापयन् ॥(२२)॥ अथ यथादवतम् । 'स्वाहा देवा आज्यपा ' इति-तत् प्रयाजानुयाजान् समस्थापयन् । प्रयाजानुयाजा वे देवा आज्यपा । ''जुपाणो अग्निराज्यस्य वेतु'' (तै० ब्रा० ३।५।६।२) इति तदग्निं स्विष्टकृत समस्थापयन् । अग्निर्हि स्विष्टकृत् । स एपोऽप्यतर्हि तथैव यज्ञ सतिष्ठन-यथैन देवा समस्थापयन् । तस्मादुत्तमे प्रयाजे स्वाहा स्वाहेति यजति-यावन्ति ह वींपि भवन्ति । विजितमेव तत्-अनु सर्वं यज्ञ संस्थापयति । तस्मात् यदत ऊर्ध्वं विलोम यज्ञ क्रियेत-न तदाद्रियेत,

'संस्थितो मे यज्ञ' इति ह विद्यात् । स ह एष यज्ञो यातयामेवास–यथा वषट्कृतम् हुतम्, स्वाहाकृतम् ॥ (२३) ॥ ते देवा अकामयन्त–'कथ न्विम यज्ञं पुनराप्याययेम, अयातयामानं कुर्याम, तेन अयातयाम्ना प्रचरेम' इति ॥ (२४)॥ स यद् जुहामाज्यं परिशिष्टमासीत्–तेन यज्ञ समस्थापयन्,– तेनैव यथापूर्वं हवींष्यभ्यघारयन्, पुनरेवैनानि तदाप्यापयन्, अयातयामान्यकुर्वन् । अयातयाम ह्याज्यम् । तस्मादुत्तमं प्रयाजं इष्ट्वा यथापूर्वं हवींष्यभिघारयति, पुनरेवैनानि तदाप्याययति, अयातयामानि करोति । अयातयाम ह्याज्यम् । तस्माद् यस्य कस्य च हविषोऽवद्यति–पुनरेव तदभिघारयति, स्विष्टकृत एव तत् पुनराप्याययति, अयातयाम करोति । अथ यदा स्विष्टकृतेऽवद्यति–न तत पुनरभिघारयति । नो हि तत कांचन हविषोऽग्नावाहुतिं होष्यन् भवति ॥(२५)॥

इति प्रथमाध्याये तृतीयं चतुर्थप्रपाठके च चतुर्थं ब्राह्मणम्

(१।५।३।)—(१।४।४)

इति—त्रिब्राह्मणात्मके प्रयाजब्राह्मणे प्रथमं ब्राह्मणम्

—१—

(अथ प्रथमकाण्डे पञ्चमाध्याये चतुर्थं, चतुर्थप्रपाठके च पञ्चमं ब्राह्मणम्)
अथ त्रिब्राह्मणात्मके प्रयाजब्राह्मणे द्वितीयं ब्राह्मणम्

४–प्रयाजाघृत् (पद्धतिः)

स वै 'समिधो' (१) यजति । प्राणा वै समिध, प्राणानेवै तत् समिन्धे । प्राणैर्ह्ययं पुरुषः समिद्ध । तस्माद-

भिमृशेति ब्रूयात्–यद्युपतापी स्यात्। स यद्युष्ण स्यात्– ऐव तावत् शंसेत, समिद्धो हि तावद् भवति। यद्यु शीत स्यात्–नाशंसेत। तत् प्राणानेव अस्मिन् एतद् दधाति। तस्मात् समिधो यजति॥ (१)॥ अथ 'तनूनपात' (२) यजति। रेतो वै तनूनपात्। रेत एवैतत् सिञ्चति। तस्मात् तनूनपात यजति॥(२)॥ अथ 'इडो'(३) यजति। प्रजा वा इड। यदा वै रेत सिक्तं प्रजायते—अथ तत् ईडितमिव अन्नं इच्छमान चरति, तत् प्रैव एतत् जनयति—तस्मादिडो यजति॥(३)॥ अथ 'बर्हि' (४) यजति। भूमा वै बर्हि। भूमानमेतत् प्रजनयति। तस्माद् बर्हिर्यजति॥(४)॥ अथ 'स्वाहा, स्वाहा' (५) इति यजति। हेमन्तो वा ऋतूनां स्वाहाकारः। हेमन्तो हीमा प्रजा स्व वशमुपनयते। तस्माद्धेमन् म्लायन्त्योषधय, प्र वनस्पतीनां पलाशानि मुच्यन्ते, प्रतितरामिव वयांसि भवन्ति, अधस्तरामिव वयांसि पतन्ति। विपतितलोमेव पाप पुरुषो भवति–हेमन्तो हीमा प्रजा स्व वशमुपनयते। स्त्री ह वै तमर्दं कुरुते श्रियेऽन्नाद्याय यस्मिन्नर्द्धे भवति–य एवमेतद्वेद॥(५)॥

५–प्रयाजानुमन्त्रणम्

देवाश्च वा असुराश्च उभये प्राजापत्या पस्पृधिरे। ते दण्डैर्धनुर्भिर्न व्यजयन्त। त ह अविजयमाना ऊचु –'हन्त वाच्येव ब्रह्मन् विजिगीषामहे, स या नो वाचं व्याहृतां मिथुनेन न अनुनिक्रामात्–स सर्वं पराजयाते, अथ सर्वमि-

तरे जयान्' इति। 'तथा' इति देवा अब्रुवन्। ते देवा इन्द्रमब्रुवन् 'व्याहर' इति॥(६)॥ स इन्द्रोऽब्रवीत्–'एको मम' इति। अथ 'अस्माकमेका' इति इतरेऽब्रुवन्। तदु तन्मिथुनेन अविन्दन्। मिथुन हि–एकश्च, एका च ॥(७)॥ 'द्वौ मम' इति इन्द्रोऽब्रवीत्। अथ 'अस्माकं द्वे' इति इतरेऽब्रुवन्। तदु तन्मिथुनमेव अविन्दन्। मिथुनं हि-द्वौ च, द्वे च ॥(८)॥ 'त्रयो मम' इति इन्द्रोऽब्रवीत्। अथ 'अस्माकं तिस्र' इति इतरेऽब्रुवन्। तदु तन्मिथुनमेवाविन्दन्। मिथुन हि–त्रयश्च, तिस्रश्च ॥(९)॥ 'चत्वारो मम' इति इन्द्रोऽब्रवीत्। अथ 'अस्माकं चतस्र' इति इतरेऽब्रुवन्। तदु तन्मिथुनमेवाविन्दन्। मिथुन हि–चत्वारश्च, चतस्रश्च ॥(१०)॥ 'पञ्च मम' इतीन्द्रोऽब्रवीत्। तत इतरे मिथुनं नाविन्दन्। नो ह्यत ऊर्ध्वं मिथुनमस्ति। पञ्च–पञ्च इति ह्येवैतदुभय भवति। ततोऽसुरा सर्वं पराजयन्त, सर्वस्माद् देवा असुरानजयन्, सर्वस्मात् सपत्नानसुरान् निरभजन् ॥(११)॥

तस्मात् प्रथम प्रयाजे इष्टे ब्रूयात्–एको मम' इति। एकः तस्य, यमहं द्वेष्मि' इति। यद्यु न द्विष्यात्-'योऽस्मान् द्वेष्टि, य च वय द्विष्म' इति ब्रूयात् ॥(१२)॥ 'द्वौ मम' इति द्वितीये प्रयाज–'द्वे तस्य–योऽस्मान् द्वेष्टि, य च वयं द्विष्म' इति ॥(१३)॥ 'त्रयो मम' इति तृतीये प्रयाज–'तिस्रस्तस्य–योऽस्मान् द्वेष्टि, य च वय द्विष्मः' इति ॥(१४)॥'चत्वारो मम' इति चतुर्थे प्रयाज 'चतस्रस्तस्य योऽस्मान् द्वेष्टि, यं च वयं द्विष्म' इति ॥(१५)॥ 'पञ्च

मम' इति पञ्चमे प्रयाजे–'न तस्य किञ्चन–योऽस्मान् द्वेष्टि, यं च वयं द्विष्मः' इति । स पञ्च पञ्चेत्येव भवन् पराभवति । तथास्य सर्वं संवृङ्क्ते–सर्वस्मात् सपत्नान् निर्भजति–य एवमेतद्वेद ॥(१६)॥

इति पञ्चसाम्नाये चतुर्थं, चतुर्थप्रपाठके च पञ्चमं ब्राह्मणम्

—(१।५।४)—(१।३।५)—

(पञ्चमाध्यायश्च समाप्तः)

इति—त्रिब्राह्मणात्मके प्रयाजब्राह्मणे द्वितीयं ब्राह्मणम्

—२—

(अथ प्रथमकाण्डे षष्ठाध्याये प्रथमं, चतुर्थप्रपाठके च षष्ठं ब्राह्मणम्)

अथ त्रिब्राह्मणात्मके प्रयाजब्राह्मणे तृतीयं ब्राह्मणम्

(षष्ठाध्यायः प्रारम्भः)

६–प्रयाजानामिष्टौ प्राथम्यम्

ऋतवो ह वै देवेषु यज्ञे भागमीषिरे–आ नो यज्ञे भजत, मा नो यज्ञादन्तर्गत, अस्त्वेव नोऽपि यज्ञे भाग–इति ॥(१)॥ तद्वै देवा न जज्ञुः । त ऋतवो देवेष्वजानत्सु असुरानुपावर्तन्त–अप्रियं देवानां द्विषतो भ्रातृव्यान् ॥(२)॥ ते हैतामेधतुमेधाञ्चक्रिरे–यामेषामेतामनुशृण्वन्ति । कृषन्तो ह स्मैव पूर्वे वपन्तो यन्ति, लुनन्तोऽपरे मृणन्तः, शश्वद्धैभ्योऽकृष्टपच्या एवौषधयः पेचिरे ॥(३)॥ तद्वै देवानामागं आस । 'कनीयः इन्न्वतो द्विषन्, द्विषतेऽरातीयति, किमु एतावन्मात्रमुपजानीत–यथेदमितोऽन्यथाऽसदिति ॥(४)॥ ते होचुः–'ऋतूनेवानुमन्त्रयामहै'–इति । 'केन' इति । 'प्रथमानेनान

यज्ञे यजाम' इति ॥(५)॥ स ह्याग्निरुवाच—'अथ यन्मां पुरा प्रथमं यजथ, क्वाहं भवानि' इति । 'न त्वामायतनाद् च्यावयाम' इति । ते यद्दतूनभिह्वयमाना अथाग्निमायतनाद् नाच्यावयन्, तस्मादग्निरच्युत । न ह वा आयतनाच्च्यवते यस्मिन्नायतने भवति—य एवमेतमग्निमच्युतं वेद ॥(६)॥ तं देवा अग्निमब्रुवन्—'परेहि, एनांस्त्वमेवानुमन्त्रयस्व' इति । स हेत्याग्निरुवाच—ऋतव ! अविदं वै वो देवेषु यज्ञ भाग' मिति । 'कथं नाऽविद' इति । 'प्रथमानेव वो यज्ञे यक्ष्यन्ति' इति ॥(७)॥ त ऋतवोऽग्निमब्रुवन्—'आ वयं त्वामस्मासु भजाम—यो नो देवेषु यज्ञे भागमविद' इति । स एषोऽग्निर्ऋतुष्वाभक्तः—"समिधोऽग्रग्ने"—"तनूनपादग्न—"इडोऽग्रग्ने"—"बर्हिरग्न"—'स्वाहाग्निम्' (तै० ब्रा० ३।५।५) इति । आभक्तो ह वै तस्यां पुण्यकृत्यायां भवति, यामस्य समानो ब्रुवाणः करोति, अग्निमतं ह वा अस्मा अग्निमन्त ऋतव ओषधी पचन्तीदं सर्वम्—य एवं मतमग्निमृतुष्वाभक्तं वेद ॥(८)॥

तदाहु—'यद् उत्तमान् प्रयाज नावाहयन्ति अथ कस्मा दनान् प्रथमान् यजन्ति' इति । 'उत्तमान् ह्येनान् यज्ञेऽवाकल्पयन्—प्रथमान् वा यजाम—इत्यब्रुवन् । तस्मादुत्तमाना वाहयन्ति, प्रथमान् यजन्ति' ॥(९)॥

चतुर्थेन वै प्रयाजेन देवा यज्ञमाप्नुवन्, त पञ्चमेन समस्थापयन् । अथ यदूर्ध्वमसंस्थितं यज्ञस्य—स्वर्गमेव तेन लोकं समाश्नुवत ॥(१०)॥ ते स्वर्गं लोकं यन्तोऽसुररक्षसेभ्य आसङ्गाद् बिभयाञ्चक्रुः । तेऽग्निं पुरस्तादकुर्वत—रक्षोहणं

रक्षसामपहन्तारम् । अग्निं मध्यतोऽकुर्वत–रक्षोहणं रक्षसाम पहन्तारम् । अग्निं पश्चादकुर्वत—रक्षोहणं रक्षसामपहन्तारम् ॥(११)॥ स यद्येनान् पुरस्तादसुररक्षसान्यासिसङ्क्षन्–अग्निरेव तान्यपाहन्–रक्षोहा रक्षसामपहन्ता । यदि पश्चादासिसङ्क्षन्–अग्निरेव तान्यपाहन्–रक्षोहा रक्षसामपहन्ता । यदि पश्चादासिङ्क्षन्--अग्निरेव तान्यपाहन्--रक्षोहा रक्षसामपहन्ता । अत एवं सर्वतोऽग्निभिर्गुप्यमानाः स्वर्गं लोकं समाश्नुवत ॥(१२)॥ तथो एवैष एतच्चतुर्थेन प्रयाजेन यज्ञमाप्नोति, तं पञ्चमेन संस्थापयति । अथ यदत ऊर्ध्वमसंस्थितं यज्ञस्य-स्वर्गमेव तेन लोकं समश्नुते ॥(१३)॥ स यदाग्नेयमाज्यभागं यजति अग्निमेवैतत् पुरस्तात् कुरुते रक्षोहणं रक्षसामपहन्तारम् । अथ यदाग्नेय पुरोडाशो भवति अग्निमेवैतन्मध्यतः कुरुते रक्षोहणं रक्षसामपहन्तारम् । अथ यदग्निं स्विष्टकृतं यजति अग्निमेवैतत् पश्चात् कुरुते रक्षोहणं रक्षसामपहन्तारम् ॥(१४)॥ स यद्येनं पुरस्तादसुररक्षसान्यासिसङ्क्षन्ति—अग्निरेव तान्यपहन्ति—रक्षोहा रक्षसामपहन्ता । यदि मध्यत आसिसङ्क्षन्ति अग्निरेव तान्यपहन्ति रक्षोहा रक्षसामपहन्ता । यदि पश्चादासिसङ्क्षन्ति अग्निरेव तान्यपहन्ति-रक्षोहा रक्षसामपहन्ता । स *एवं सर्वतोऽग्निभिर्गुप्यमानः स्वर्गं लोकं समश्नुते ॥(१५)॥*

७–अभिचार

स यद्येनं पुरस्ताद् यज्ञस्य अनुव्याहरेत्–तं प्रति ब्रूयात् 'मुख्यामार्तिमारिष्यति अन्धो वा, बधिरो वा भविष्यसि' इति ।

एता वै मुख्या आर्त्तयः । तथा हैव स्यात् ॥(१६)॥ यदि मध्यतो यज्ञस्य अनुव्याहरेत्-तं प्रति ब्रूयात् 'अप्रजा, अपशुर्भविष्यसि' इति । प्रजा वै पशवो मध्यम् । तथा हैव स्यात् ॥(१७)॥ यद्यन्ततो यज्ञस्य अनुव्याहरेत्-त प्रति ब्रूयात् 'अप्रतिष्ठितो दरिद्रः क्षिप्रेऽमु लोकमेष्यसि' इति । तथा हैव स्यात् । तस्मादु ह नानुव्याहारीव स्यात् । उत ह्येवंवित्परो भवति ॥(१८)॥

८—फलश्रुतिः

सम्वत्सर ह वै प्रयाजैर्जयन् जयति । स ह त्वनेनं जयति-योऽस्य द्वाराणि वेद । किं हि स तेगृहे कुर्यात् यानन्तरतो न व्यवविद्यात् यथा यथास्य ते भवन्ति । तस्य वसन्त एव द्वारं, हेमन्तो द्वारम् । तं वा एत सम्वत्सरं स्वर्गं लोक प्रपद्यते । सर्वं वै सम्वत्सर, सर्वं वा अक्षय्यम् । एतेनो हास्याक्षय्यं सुकृतं भवति, अक्षय्यो लोकः ॥(१९)॥

९—परिशिष्टप्रश्नोत्तरविमर्श

तदाहुः—'किंदेवत्यान्याज्यानि' इति । 'प्राजापत्यानि' इति ह ब्रूयात् । अनिरुक्तो वै प्रजापति, अनिरुक्तान्याज्यानि । तानि हैतानि यजमानदेवत्यान्येव । यजमानो ह्येव स्व यज्ञे प्रजापति –एतेन शुक्र ऋत्विजस्तन्वते त जनयन्ति ॥(२०)॥ स आज्यस्य उपस्तीर्य, द्विर्हविषोऽवदाय, अथा परिष्टद् आज्यस्य अभिघारयति । सैषा आज्येन मिश्राहुतिर्हूयत । यजमानेन हैवैतम्मिथो हूयते । यदि ह वा अपि

दूरे सन् यजते, यद्यन्तिके-यथा हैवान्ते सत इष्टं स्यात्, एव हैवैव विदुष इष्ट भवति । यद्यु हापि बहिरिव पाप करोति—नो हैव बहिर्द्धा यज्ञाद्भवति—य एवमेतद्वेद ॥(२१)॥

इति षष्ठाध्याये प्रथमं, चतुर्थप्रपाठके च षष्ठं ब्राह्मणम्

—(१।६।१)—(१।४।६)—

(चतुर्थप्रपाठकश्च समाप्तः)

इति—त्रिब्राह्मणात्मके प्रयाजब्राह्मणे तृतीयं ब्राह्मणम्

—३—

समाप्तमिदं त्रिब्राह्मणात्मकं प्रयाजब्राह्मणम्

इति—प्रवचनपाठः (ख)

———

क—प्रथम—मूलानुवादे प्रासङ्गिकसंग्रहः—

प्रस्तुत 'प्रयाज' कर्म्म का ब्राह्मणग्रन्थ के तीन ब्राह्मणों में सोपपत्तिक निरूपण हुआ है। अतएव समानप्रकरणानुबन्ध से हमने तीन ब्राह्मणों का एकत्र समन्वित रूप से समावेश करना आवश्यक माना है। तीनों ब्राह्मणों में प्रयाज-कर्म्म का ही विश्लेषण हुआ है, अतएव तीनोंकी समष्टि को एक ब्राह्मण मानते हुए हमने उसे— प्रयाजब्राह्मण' इस एक नाम से व्यवहृत करना अन्वर्थ मान लिया है।

त्रिब्राह्मणात्मक 'प्रयाजब्राह्मण' के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, ब्राह्मणों में क्रमशः ३, २, ४, इतने अवान्तर प्रकरणों का समावेश हुआ है। तीनों ब्राह्मणों की कण्डिका संख्या क्रमशः (१)—२५, (२)—१६, (३)—२१, हैं। सम्भूय त्रिब्राह्मणात्मक इस प्रयाज ब्राह्मण में ९ अवान्तर प्रकरण, तथा ६२ कण्डिका हुआ करती हैं। इस प्रासङ्गिक संग्रह का लक्ष्य में रखते हुए ही प्रस्तुत मूलानुवाद का समन्वय करना चाहिए।

१	(१)-१—प्रयाजबन्धु——१ कं०, ५ कं०। (५ कं०) (२)-२—उपत्प्रैष——६ कं०, ८ कं०। (३ कं०) (३)-३—प्रयाजब्राह्मणम्—९ कं०, २५ कं०। (१७कं०)	→ त्रिप्रकरणात्मकं २५ कण्डिकात्मकं प्रथमं प्रयाजब्राह्मणम् १
२	(१)-४—प्रयाजाहुत्——१ कं०, ५ कं०। (५ कं०) (२)-५—प्रयाजानुमन्त्रणम्—६ कं० १६ कं०। ११ कं०)	→ द्विप्रकरणात्मकं १६ कण्डिकात्मकं द्वितीय प्रयाजब्राह्मणम् २
३	(१)-६-प्रयाजनामाभिख्यो प्राथम्यम् १कं०,१५कं०।(१५कं०) (२)—७—अभिघार——१६ कं० १८ कं०। (३ कं०) (३)—८—कर्मभूति——१९ कं०,। (१ कं०) (४)—९—परिशिष्टप्रस्तावविमर्श—२०कं,२१कं०। (२कं०)	→ चतुःप्रकरणात्मकं २१ कण्डिकात्मकं तृतीयंप्रयाजब्राह्मणम् ३

त्रिब्राह्मणात्मकं ९ अवान्तरप्रकरणात्मकं, ६२ कण्डिकात्मकं-"प्रयाजब्राह्मणम्"

ख–मूलानुवादः—

(१)–पाँचवें अध्याय में तीसरा (३), चौथे प्रपाठक में चौथा (४)–(१।५।३)–(१।४।४)—

(२)–पाँचवें अध्याय में चौथा (४) चौथे प्रपाठक में पाँचवां (५)–(१।५।४)–(१।४।५)—

(३)–छठे अध्याय में पहिला (१), चौथे प्रपाठक में छठा (६)–(१।६।१)–(१।४।६)—

तीन ब्राह्मणों की समष्टिरूप—"प्रयाजब्राह्मण"

(प्रथमकण्डिकानुगत क्रम से २२, २३, २४ वें ब्राह्मण)



प्रथमकाण्ड में पाँचवें अध्याय में तीसरा, चौथे प्रपाठक में चौथा ब्राह्मण

(१–५–३)—(१–४–४)

(१—त्रिब्राह्मणात्मक प्रयाजब्राह्मण में क्रमप्राप्त प्रथम ब्राह्मण)

१–प्रयाजबन्धु (उपपत्ति)

(पूर्व के स्रुगादापनब्राह्मण में स्रुगादापन–निगदमन्त्र के पाठानन्तर जिस आश्रावण, प्रत्याश्रावणकर्म्म की उपपत्ति बतलाई गई है, उस का 'पञ्चप्रयाज' याग से सम्बन्ध है। आघारकर्म्म से पहिले 'पञ्चप्रयाज' नामक कर्म्मविशेष विहित है, जैसा कि, सूत्रानुगत–पद्धतिप्रकरण में स्पष्ट किया जाने वाला है। 'ओ श्रावय' इत्यादि व्याहृतियों के पारस्परिक सम्प्रदानपूर्वक विहित–पञ्चधा विभक्त आज्याहुतिकर्म्म ही 'पञ्चप्रयाज'कर्म्म है। आ० प्र० कर्म्मेतिकर्त्तव्यता बतलाते हुए पूर्वब्राह्मणान्तर्गत सूत्रानुगत–पद्धतिसंग्रह परिच्छेद में यह स्पष्ट किया गया था कि, हविष्कर्त्त के 'अग्निर्होता वेत्त्वग्नेर्होत्रम्०' इत्यादि नवव्याहृत्यात्मक स्रुगादापननिगदपाठ के अवसर पर होता के मुख से जिस समय–'घृतवती' अध्वर्यो स्रुचमास्यस्व' इस वार्धी व्याहृति का उच्चारण होता है, उस के 'घृतवतीम्' पदोच्चारण के साथ साथ ही अध्वर्यु जुहू–उपभृत् का ग्रहण कर लेता है। स्रुगादापन–कर्म्म समाप्त्यनन्तर अध्वर्यु 'आग्नीध्र' के प्रति 'ओ श्रावय' व्याहृति का, आग्नीध्र अध्वर्यु के प्रति 'अस्तु श्रौषट्' व्याहृति का, अध्वर्यु होता के प्रति 'यज' व्याहृति का, एवं होता अध्वर्यु के प्रति 'ये यजामहे' व्याहृति का उच्चारण करता है। सबान्त में होता के मुख से 'वौषट्' इस पाँचवीं व्याहृति का उच्चारण होते ही अध्वर्यु जुहू–स्थित आज्यभाग को समिद्ध आहवनीयाग्नि में आहुति दे देता है, यही आ० प्र० कर्म्म है"–हिन्दी ए ४ सं० १८८ स्रुगादापन ब्राह्मण–। वस्तुतः आ० प्र० कर्म्म का तात्पर्य्य है—पञ्च-

व्याहृतियों का पारस्परिक सम्प्रदानपूर्वक उच्चारण करना। आहुति देना तो प्र यककर्म्म है, जो इन्हीं पांच व्याहृतियों के पञ्चावर्त्तन से पांच बार होता है, जिस सोमपत्तिक इतिकर्त्तव्यता प्रकृत के त्रिब्राह्मणात्मक प्रयाजब्राह्मण में प्रतिपादित है। पूर्वब्राह्मण में वस्तुतः सु गादापनकर्म्म की ही सोपपत्तिक इतिकर्त्तव्यता का रूपण हुआ है। अतएव वह ब्राह्मणभाग इसी नाम से ('स्नु गादापनब्राह्मण' न म) ही व्यवहृत किया गया है। चु कि इस कर्म्म का 'घृतवतीम्०' इत्यादि जो व्याहृति के साथ ही 'ओ श्रावय०' इत्यादि लक्षण व्याहृतिरूप (पञ्चप्रयाज कर्म्म का उपक्रम हो जाता है, अतएव वहीं श्रुति ने इस पञ्चव्याहृति से सम्बन्ध रखने वा उपपत्ति का स्पष्टीकरण कर दिया है।-तत्वतः श्रा० प्र० कर्म्मोपपत्ति से सम्ब रखने वाले स्रु गादापनब्राह्मण में प्रतिपादित वह प्रकरण प्रकृत के प्रयाजब्राह्म से ही सम्बन्ध रखता है। और इस दृष्टिकोण से यह कहा जासकता है कि,—पू ब्राह्मण की—"अग्निर्होता वस्वमर्होत्रम्०'-१-५-२-१" इस प्रथम कण्डिका से आ रम्भ कर-'ता वा एता नव व्याहृतयो भवन्ति०' १-५-२-५" इस पाँचवीं कण्डिका पर्य्यन्त पञ्चकण्डिकात्मक ब्राह्मणभाग ही वस्तुतः 'स्रु गादापनब्राह्मण' है। आगे 'यज्ञो ह देवेभ्योऽपचक्राम०'-१-५-२-६" इस ६ ठी कण्डिका से ही प्रयाजब्राह्म आरम्भ होजाता है। यहां से-६ ठी कण्डिका से-आरम्भ कर त्रिब्राह्मणात्मक मह प्रयाजब्राह्मण के तृतीय ब्राह्मण की 'स आप्यरगोपस्तीर्य०'-१-५-१-२१' इस इक् सवीं कण्डिका पर्य्यन्त सम्पूर्ण ब्राह्मण भाग 'प्रयाजब्राह्मण' है। प्रयाजकर्म्म जि 'ओश्रावय' इत्यादि आश्रावण-प्रत्याश्रावणात्मिका व्याहृतियों से सम्पन्न होता है उन व्याहृतियों से सम्बन्ध रखने वाले पारस्परिक सम्प्रदान की, व्याहृतियों क पञ्च संख्या की, समरूपा अक्षरों की, काम्य फलों की उपपत्तिमात्र पूर्वब्राह्मण में प्रतिपादित हुई है। अब प्रकृत प्रकरण में 'ओश्रावय' आदि से सम्पन्न होने वा प्रयाजकर्म्म की ही उपपत्ति बतलाई जाती है। अतएव प्रस्तुत प्रकरण-'प्रयाजब्राह्म नाम से व्यवहृत हुआ है। इसी प्रकरण सङ्गति का लक्ष्य में रखते हुए श्रुत्यर्थ क समन्वय करना चाहिए)।

(स्रु गादापन कर्म्मानन्तर-'ओ श्रावय०' इत्यादि व्याहृतियों के द्वारा आ श्रावकर्म्म से सहित पाँच प्रयाज होते हैं। प्रयाज पाँच क्यों होते हैं?, इसी प्रश्न क सोपपत्तिक समाधान करती हुई श्रुति कहती है)—(ये पांच) प्रयाज निश्चय से (पांच) ऋतुएँ हैं (अर्थात् पञ्चप्रयाज पाँच ऋतुओं के प्रतीक हैं)। इसी लिए (यहां) पांच प्रयाज होते हैं (किए जाते हैं)। निश्चयेन ऋतुएँ पांच हैं। तात्पर्य

यही हुआ कि, प्रयाजकर्म्म ऋतुकर्म्म है । ऋतुएँ चूंकि पांच हैं, अतएव तद्रूप प्रयाजों का पांच होना स्वाभाविक ही है) ॥१॥ (दूसरा प्रश्न प्रयाज कर्म्म के सम्बन्ध में यह उपस्थित होता है कि, प्रकृत इष्टिकर्म्म में ऋतुलक्षण प्रयाजों का यजन किया ही क्यों जाता है ?, इसी प्रश्न का एक वैज्ञानिक आख्यानद्वारा समाधान करती हुई श्रुति कहती है)—(एक ही प्रजापति की सन्तान होने से) 'प्राजापत्य' (नाम से प्रसिद्ध) देव (देवदेवता) और असुर (असुरदेवता), दोनों (ही) पिता प्रजापतिरूप यज्ञात्मक सम्वत्सर को लक्ष्य बनाकर (निमित्त बनाकर)—'यह हमारा ही होगा, यह हमारा ही होगा' इस प्रकार स्पर्द्धा करने लगे । (तात्पर्य्य सम्वत्सरप्रजापतिरूप यज्ञसम्पत् के लिए दोनों में प्रतिस्पर्द्धा चलने लगी, दोनों उस पर अपना स्वत्व प्रतिष्ठित करने के लिए परस्पर झगड़ने लगे) ॥ (२) ॥ (अभिमानी असुरों ने स्पर्द्धा तो अवश्य की प्राजापत्य यज्ञसम्पत्ति के भोग की तो कामना अवश्य की परन्तु जिस प्राण–वाग् व्यापारलक्षण अर्चन–तप–श्रम से वह कामना सफल हुआ करती है, उस का अनुगमन उन्होंने न किया । उधर) देवों ने (अपनी स्वाभाविक कर्म्म—प्रवणता से) अर्चन (लक्षण तपोरूप प्राणव्यापार, अन्तर्व्यापार एवं) श्रम (लक्षण वाग्व्यापार–बहिर्व्यापार, तत्वतः आत्मबल, एवं शरीरबल) का अनुगमन करते हुए (यज्ञसम्पत् प्राप्ति के उपाय का अन्वेषण करते हुए) विचरने लगे । (कालान्तर में इस अर्चन, श्रम के फल स्वरूप) उन्होंने (देवदेवताओं ने) (यज्ञसम्पत्–जयसाधनभूत) इन (आगे बतलाए जाने वाले) प्रयाजों को दृष्ट किया (प्राप्त कर लिया) इन (प्राप्त प्रयाजों) से (देवदेवताओं ने सम्वत्सरयज्ञप्रजापति का) यजन किया (यज्ञ के साथ प्रयाज कर्म्म का सम्बन्ध करा दिया) इन (पाँच प्रयाजों) से (देवदेवताओं ने सम्वत्सरावयवभूत पांच ऋतुओं को, (एवं पाँच ऋतुओं के द्वारा ही पञ्चर्तु समष्टिरूप) सम्वत्सर को जीत लिया । (इस प्रयाजकर्म्मबल से ही) देवदेवताओं ने (सम्वत्सर के अवयव सब पांचों) ऋतुओं से (एवं समष्ट्यात्मक) सम्वत्सर (रूप यज्ञमण्डल) से (चूंकि अपने सपत्न) शत्रुओं (असुरों) को निकाल बाहिर किया अतएव (असुरपराजयपूर्वक स्वजयलाभ के कारण ही) ये (पांच कर्म्म) 'प्रजय' (जयप्राप्ति के साधन) कहलाए । यह 'प्रजया' ही नाम (परोक्षप्रियदेवताओं की परोक्षभाषा में यज्ञसम्प्रदाय में) प्रयाजा नाम से प्रसिद्ध हुआ । (तात्पर्य्य आख्यान का यही हुआ कि, देवता और असुर, दोनों सम्वत्सरयज्ञ–सम्पत्ति प्राप्त करना चाहते थे । देवताओं ने देखा कि बिना अवयव सम्पत्ति प्राप्ति के अवयवी–सम्पत्ति प्राप्त नहीं

की-जा सकती। फलस्वरूप उन्होंने पहिले ऋतुजय—स्वरूपा ऋतुसम्पत्ति प्राप्त की। इसी के बल से आगे जाकर सम्पूर्ण सम्वत्सर पर उन का अधिकार होगया। इस प्रकार ऋतुयजन ही देवताओं के जय का कारण बना। अतएव ऋतुकर्म अवश्य ही 'प्रजय' कहा जासकता है। प्रजयरूप ऋतुकर्म ही परोक्षभाषा में 'प्रयाज' कह लाया)। (वैधयज्ञ में प्रवृत्त यजमान के लिए भी यह आवश्यक है कि, वह भी इसी प्राकृतिक नियमानुसार पहिले ऋतुयजसम्पत्ति ही प्राप्त करे, इसी अभिप्राय से आगे जाकर श्रुति कहती है)—उसी प्रकार (जैसे प्राकृतिक यागसम्पादक देवदेवताओं ने किया था) यह यजमान (भी अपने इन) पांच प्रयाजों से (यज्ञाधिष्ठातृ देवात्मा के लिए) ऋतुओं को, एवं (ऋतुद्वारा ऋतुसमष्टिरूप) सम्वत्सर को अपने अधिकार में करता है, (इस प्राणाधिकार बल पर) ऋतुओं और सम्वत्सर से अपने शत्रुओं को बाहिर निकाल देता है। इसीलिए (ऋतुसम्पत्तिपूर्वक सम्वत्सर सम्पत्ति प्राप्ति के लिए ही) यह प्रयाजों से (ऋतुओं का) यजन करता है (प्रयाज कर्म करता है। प्रयाज कर्म क्यों किया जाता है ?, इस प्रश्न का यही 'वस्तु'-(तात्पर्य-उपपत्ति- समाधान) है ॥१॥

(आवाप-प्रधान- देवता के लिए जहां पुरोडाशाहुति विहित है वहां ऋतुरूप प्रयाज देवताओं के लिए आज्यहवि-घृताहुति-विहित है। प्रयाजों के लिए आज्यहवि क्यों होती है ?, इसी प्रासङ्गिक प्रश्न की उपपत्ति बतलाने के अभिप्राय से श्रुति कहती है)—वे (पांचों प्रयाज) निश्चयेन आज्यहवि वाले होते हैं (पांचों के लिए घृताहुति का विधान हुआ है। कारण इसका यही है कि) (यह) आज्य निश्चयेन वज्र (शत्रुनाशक साधन) है। आज्यरूप इसी वज्र से निश्चयेन देवदेवताओं ने (असुरों का संहार करते हुए) पांचों ऋतुओं (एवं तद्द्वारा) सम्वत्सर को जीत लिया (था), (इसी जयलाभ के बल पर इन्होंने) ऋतुओं, और सम्वत्सर से शत्रुओं का निकाल बाहिर किया (था)। उसी प्रकार (प्राकृतिक यज्ञवत्) यह यजमान (भी) आज्यरूप इसी वज्र से ऋतु, और सम्वत्सर जीत लेता है (लेगा), ऋतु और सम्वत्सर से शत्रुओं को निकाल देता है (देगा)। (चूंकि आज्य शत्रुविनाशक वज्र है यही कर्म-शत्रुनाशपूर्वक जयलाभ-ही यहां अभीप्सित है।) अतएव (ये प्रयाज) आज्यहविवाले होते हैं। (प्रयाजों के लिए क्यों आज्याहुति होती है ? प्रश्न की यही उपपत्ति है) ॥ २ ॥ (आज्यहवि का एक कारण तो शत्रुपराभव है। अब एक दूसरा कारण और बतलाती हुई श्रुति कहती है)—यह जो आज्य है वह निश्चयेन सम्वत्सरयज्ञ का अपना रस-सार-भाग है (प्रति

लिए रेत-बल-है)। (प्रयाजों के लिए आन्तरिक्ष आज्यतत्त्व की आहुति देते हुए) देवदेवताओं ने उस सम्वत्सर प्रजापति को अपने 'आपके सारभाग से ही युक्त बनाया। तथैव (आज्यहवि करता हुआ) यह यजमान (भी) सम्वत्सर को अपने सारभाग से ही उसे अपनाता है। इसलिए (भी ये) प्रयाज आज्यहवि वाले होते हैं। (तात्पर्य, शत्रुविनाश पहिला फल है, सम्वत्सर को अपने ही सार भाग से युक्त कर उसे समृद्ध करना, तद्द्वारा स्वयम् को समृद्ध करना आज्यहविष्करण का द्वितीय फल है। यही प्रयाजानुगता आज्यहवि का वस्तु-उपपत्ति-है) ॥५॥

(प्रयाजकर्म्म आश्रावणपूर्वक आरम्भ होता है, यह कहा जा चुका है। इस सम्बन्ध में यह नियम है कि, जिस यज्ञ भूमिप्रदेश पर खड़ा हुआ अध्वर्यु आग्नीध्र के प्रति—प्रयाजकर्म्म के लिए 'ओ श्रावय' इस व्याहृति का उच्चारण करता है, वहां से पीछे नहीं हटना चाहिए। ऐसा आदेश क्यों दिया गया ?, इसी प्रश्न की उपपत्ति बतलाने के अभिप्राय से आदेश—विश्लेषण पूर्वक श्रुति कहती है)—वह अध्वर्यु जिस (नियत) प्रदेश में ही खड़ा होकर प्रयाजों के लिए आश्रावण करे, उस प्रदेश से पीछे न हटे। (कारण यही है कि) जो अध्वर्यु प्रयाजों से (शत्रुओं का) यजन करता है, वह (यजमान के शत्रुओं के साथ) युद्ध ठानता है। दो योद्धाओं में से जो योद्धा पराजित हो जाता है, वह निश्चयेन मैदान छोड़ भागता है। दूसरा जीतने वाला योद्धा आगे बढ़ता जाता है। (प्रयाजकर्म्म संग्राम कर्म्म है, अध्वर्यु योद्धा की जयलाभ करना है। आगे बढ़ना ही जय का सूचक है) अतएव (अध्वर्यु को चाहिए कि) वह आगे आगे ही बढ़ आगे आगे ही आहुति प्रदान करे। (प्रयाजकर्म्म से सम्बन्ध रखने वाले अपक्रमणनिषेध, अभिक्रमण विधान का यही वस्तु है। एवं यही प्रयाजकर्म्म का वस्तु—उपपत्ति—है, जिसका ६ कण्डिकाओं में विश्लेषण हुआ है) ॥ ६ ॥ (परम वैज्ञानिक भगवान् याज्ञवल्क्य की दृष्टि में पीछे न हटना तो ठीक है। परन्तु आहुति के साथ साथ आगे आगे बढ़ना अनुचित है। अतएव—'तस्मादभिपरामभिक्रामन् जुहुयात्' यह उनकी दृष्टि में विज्ञान विरुद्ध है। इसी पक्ष का खण्डन करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि) वह अध्वर्यु वैसा न करे (आगे आगे बढ़ बढ़ कर आहुति न दे)। 'जिस प्रदेश में खड़ा होकर अध्वर्यु प्रयाजों के लिए आश्रावण करे वहां से पीछे न हटे' (इतना अंश तो विज्ञानसम्मत है, परन्तु—थोड़ा थोड़ा आगे बढ़ता हुआ आहुति दे यह अंश अवैज्ञानिक है। शत्रुनाश ही तो अभिप्रेत है। वह यहां इस आहुति पर निर्भर है जो आहुति समिद्ध अग्नि में हुत होकर

समिद्ध बनती है। यदि आगे-आगे चढ़ना अनिवार्य मान लिया जायगा, और उन अग्रप्रदेशों में अग्नि समिद्ध न मिलेगा, तो उस असमिद्ध (अप्रज्वलित) अग्नि में हुत आहुति भी असमिद्ध रहती हुई निरर्थक बन जायगी। अतएव उत्तराक्रमण का आग्रह निरर्थक, साथ ही अभीष्टफल का विघातक भी होगा। अतएव होना यह चाहिए कि) वह अध्वर्यु (आहवनीयाग्नि के) जिस प्रदेश में अग्नि को समिद्ध देखे वहीं आहुति दे (चाहे उस समिद्धाग्निप्रदेश के लिए उसे ही आगे आक्रमण न करना पड़े। क्यों कि) समिद्धहोम (समिद्धाग्नि में आहुतिद्रव्य डालने से) ही आहुतियाँ समिद्ध मानी गई हैं॥ ७॥

इति—प्रयाजब्रा० (१)

—— ● ——

२—उत्तरप्रैष

(सर्वप्रथम अध्वर्यु आग्नीध्र के प्रति-'ओ श्रावय' यह प्रैष करता है। इस प्रैष से आग्नीध्र अध्वर्यु के प्रति 'अस्तु श्रौषट्' यह कहता है। अनन्तर पुन: अध्वर्यु होता के प्रति 'यज'-याज्यामन्त्र का अनुवचन करो यह प्रैष करता है। जिस जिस प्रयाज का यजन होता है, उस उस प्रयाज के लिए अध्वर्यु को ओ श्रावय ओ श्रावय, इत्यादि रूप से आग्नीध्र के प्रति, एवं—'यज'—'यज' इत्यादि रूप से होता के प्रति प्रैष करना पड़ता है। इस दृष्टि से आग्नीध्र के प्रति होने वाले 'ओ श्रावय' रूप प्रैषों का 'पूर्वप्रैष' कहा जायगा एवं उत्तरभावी होता के प्रति होने वाले-'यज' रूप प्रैषों का 'उत्तरप्रैष' कहा जायगा। प्रस्तुत सातवीं कण्डिका में 'यज' लक्षण उन उत्तरप्रैषों का ही निरूपण हुआ है। श्रुति कहती है)—

वह (अध्वर्यु आग्नीध्र के प्रति 'ओ श्रावय' इस रूप से) आश्रावण कर (आग्नीध्र से 'अस्तु श्रौषट्' इत्याकारक प्रत्युत्तर प्राप्त करने के अनन्तर होता नामक ऋत्विक् के प्रति उत्तरप्रैष करता हुआ) कहता है—'समिधो यज' (हे होत! समिद्वती देवता के याग के लिए याज्या पाठ करो)। ('समिधो यज' इस) उत्तरप्रैष से अध्वर्यु वसन्त ऋतु को ही समिद्ध-प्रज्वलित-करता है (उत्तरप्रैष कर्म से ऋतुएँ प्रदीप्त हो पड़ती हैं यही तात्पर्य है। अध्वर्युकृत उत्तरप्रैषात्मक-समिधा यज इस समिन्धनकर्म से न केवल वसन्त को ही, अपितु तद्द्वारा सम्पूर्ण-पाँचों-ऋतुओं को समिद्ध कर देता है। क्योंकि वसन्त ही शेष ऋतुओं की मूलजननी

है, जैसा कि, विवेचना प्रकरण में स्पष्ट किया जाने वाला है। इसी तात्पर्यार्थ का प्रतिपादन करती हुई श्रुति कहती है) – (अध्वर्युकृत उत्तर प्रैष से) समिद् वह वसन्त अन्य (चारों) ऋतुओं को समिद्ध कर देता है। (वसन्तसमिन्धन के द्वारा परम्परया क्रमशः) समिद्ध पांचों ऋतुएं प्रजा उत्पन्न करती हैं, ओषधि (वनस्पतियों को भी) परिपक्व करती हैं। (वसन्तसमिन्धनरूप जिस कारण से वसन्त स्वयं समिद्ध होता हुआ परम्परया अन्य ऋतुसमिन्धन का भी कारण बन जाता है) इतावता ही (केवल वसन्त समिन्धन ही) अन्य सब ऋतुओं (के समिन्धन का स्पष्टीकरण कर) रहा है। (तात्पर्य, केवल वसन्त समिन्धन ही शेष ऋतु समिन्धन के लिए पर्य्याप्त है)। (जिस प्रकार वसन्त यागात्मक समिद्याग में–'समिधो यज' इत्यादि रूप से ऋतु नाम का उल्लेख होता है, तद्वत् इतर ग्रीष्मादि यागात्मक तनूनपात् यागादि में—'तनूनपातं यज'—इत्यादि रूप से नामनिर्देश स्वतः प्राप्त है। उसी का एक विशेष हेतु से निराकरण करती हुई श्रुति कहती है)—वह अध्वर्यु (वसन्त के याग की—ग्रीष्मादि) ऋतुओं को (तनूनपातं यज—इडो यज—इत्यादि रूप से नाम निर्देश न कर केवल) 'यज—यज—' इस प्रकार नाम निर्देश के बिना ही कहता है। (जब क्रमप्राप्त नामनिर्देश होना न्याय प्राप्त है, तो नामग्रहण पूर्वक उत्तर ऋतुओं के लिए उत्तरप्रैष क्यों नहीं किया जाता ?, प्रश्न का समाधान करती हुई श्रुति कहती है कि) अजामिता के लिए (ही यज यज रूप से ही) उत्तर ऋतुओं को कहता है (ऋतुओं के लिए उत्तरप्रैष करता है)। जामि (पुनरुक्तदोष) करेगा, यदि वह अध्वर्यु—'तनूनपातं यज'—'इडो यज' यह कहेगा तो। तात्पर्य्य, जब समिद् नाम निर्देश से ही इतर ऋतुओं का समिन्धन हो जाता है, तो दुबारा ऋतुओं का नाम निर्देश करना पुनरुक्ति होगी, जो वेदभाषा में 'जामि' दोष कहलाता है) इसलिए वह (नाम निर्देश किए—बिना केवल) 'यज—यज' इसी रूप से उत्तर ऋतुओं को कहता है ॥ ८ ॥

इति—उत्तरप्रैषः (२)

———o———

३—प्रयाजब्राह्मण

ऋतुयागात्मक पञ्च प्रयाजों से सम्बन्ध रखने वाली उपपत्तियां १ कण्डिका से ८ कण्डिकापर्य्यन्त ८ कण्डिकाओं के द्वारा स्पष्टीकरण कर ६ कण्डिका से ७६

की कण्डिकापर्य्यन्त आप्रयाणसमाप्ति पर्य्यन्त—१७ कण्डिकाओं के द्वारा प्रयाजयागेतिकर्त्तव्यता तद्द्वारा पद्धति का प्रयाजयागानुष्ठान क्रम से निरूपण करती हुई श्रुति कहती है)—

१ वह (अध्वर्यु नामक ऋत्विक् होता नामक ऋत्विक् के—'समिधो अग्न आज्यस्य व्यन्तु, वौषट्' इस समिद्देवताक याज्यामन्त्र के बोलने पर उस के—'वौषट्' उच्चारण के साथ आहवनीयाग्नि के समिद्ध प्रदेश में सुचुस्थित आज्य की आहुति द्वारा) समिद्याग (वसन्तयजन) करता है। समित् निरुपयेन वसन्त है। (प्राकृतिक समिद्याग से) देवदेवताओं ने वसन्त को ही (असुराधिकार से) पृथक् किया (था), एवं वसन्त से (अपने शत्रु असुर) सपत्नों को निकाल बाहिर किया (था)। इसी प्रकार (प्राकृतिक समिद्याग की विधा पर प्रतिष्ठित याज्यामन्त्रास-न्वितयुक्त इस अपने वैध समिद्याग के बल पर) यह अध्वर्यु (यजमान के लिए) वसन्त को ही (यजमान के शत्रुओं के अधिकार से) पृथक् करता है, एवं (यजमान के) शत्रुओं को निकाल बाहिर करता है। (वैधयज्ञ से उत्पन्न यज्ञातिशय-अपूर्व यजमान के दैवात्मा के स्वर्गात्मक सम्वत्सरयज्ञपथ के प्रथम वसन्त पर्व पर यजमान के शत्रु का अधिकार न रहे, केवल दैवात्मा ही उसका अन्यतम भोक्ता बने) इसीलिए (अध्वर्यु) समिद्याग करता है ॥१॥

(२) समिद्याग करने के अनन्तर वह (अध्वर्यु होता के—'तनूनपादग्न आज्यस्य वेतु वौषट्' इस तनूनपाद्देवताक याज्यामन्त्र के बोलने पर उस के 'वौषट्' उच्चारण के साथ आहवनीयाग्नि के समिद्ध प्रदेश में सुचुस्थित आज्याहुति द्वारा) तनूनपाद्याग (ग्रीष्मयजन) करता है। तनूनपात् निरुपयेन ग्रीष्म है। ग्रीष्म ही इन (पार्थिव) प्रजाओं के शरीरों को तपाता है (अतएव तनूनपात् अवश्य ही ग्रीष्म है)। (प्राकृतिक तनूनपाद्याग से) देवदेवताओंने ग्रीष्म को ही (असुराधिकार से) पृथक् किया (था) एवं ग्रीष्म से (असुर) सपत्नों को निकाल बाहिर किया था—(शेष १ कण्डिकावत्) ॥१०॥

(३) तनूनपाद्यागानन्तर वह (अध्वर्यु होता के—'इडो अग्न आज्यस्य व्यन्तु, वौषट्' इस इड्-देवताकयाज्या-मन्त्रोच्चारण करने पर उस के 'वौषट्' उच्चारण के साथ समिद्ध आहवनीयाग्नि में आज्याहुतिद्वारा) इड्-याग (वर्षायजन) करता है। इड् निरुपयेन वर्षा है। इड् इसलिए वर्षा है कि, पृथिवी पर रेंगते हुए जो ये छोटे छोटे कृकलास-गोधा आदि-प्रादि जन्तु गर्मी, और सर्दी के आक्रमण

स प्रतिरामरूप से क्षीणकाय होजाते हैं, वे सब क्षुद्र सरीसृप वर्षा के आते ही जीवन धारण करते हुए से-मुग्ध से होते हुए अन्नादान की इच्छा करते हुए (बड़ उल्लास के साथ) इतस्ततः विचरने लगते हैं। (इस प्रत्यक्ष-दृष्ट इन्न भाव से अवश्य ही वर्षा को इद् अन्नात्मक-कहा जासकता है।-(शेष ६ कण्डिकावत्) ॥११॥

(४)—इड्-यागानन्तर वह (अध्वर्यु होता के—'बर्हिरग्न आज्यस्य वेतु वौषट्' इस बर्हिर्देवताक याज्यामन्त्रोच्चारण के अनन्तर उस के 'वौषट्' उच्चारण के साथ समिद्ध आहवनीयाग्नि में आज्याहुति के द्वारा) बर्हिर्याग (शरद्यजन) करता है। बर्हि निश्चयेन शरत् है। बर्हि इसलिए शरत् है कि, जो ये ओषधियाँ गर्मी-सर्दी से मुर्झा जाती हैं, वे ओषधियाँ वर्षा-के आगमन पर (पुनः) प्रवृद्ध होजाती हैं। (वर्षा में प्रवृद्ध) व (ही) ओषधियाँ शरदृतु में फैले हुए-बिखरे हुए बर्हितृणों की भाँति शीघ्र होजाती हैं। इस स्तरण-शीर्ण-भाव के साधर्म्य से शरत् (अवश्यमेव) बर्हि है। (शेष कण्डिकावत्) ॥१२॥

(५)—बर्हिर्यागानन्तर वह (अध्वर्यु होता के-"स्वाहाऽग्निं स्वाहा सोमं, स्वाहाग्नि, स्वाहा देवाँ आज्यपाम्, स्वाहाग्निं होत्रा जुषाणा', अग्न आज्यस्य व्यन्तु वौषट्" इस स्वाहा-हेमन्त-देवताक याज्यामन्त्रोच्चारण के अनन्तर उस के 'वौषट्' उच्चारण के साथ समिद्ध आहवनीयाग्नि में आज्याहुति के द्वारा) स्वाहा-स्वाहायाग-(हेमन्त यजन) करता है। 'स्वाहा' कार यज्ञ का अन्त (अन्तिम पर्व) है। (उधर पाँच) ऋतुओं का हेमन्त ही अन्त (अन्तिम पर्व) है। हेमन्त बसन्त से पराङ्ग-परम भाग-अन्तिमभाग-पर है। इसीलिए इसे ऋतुओं का अन्त कहा जासकता है। (अपने प्राकृतिक स्वाहायाग से) देवदेवताओं ने (यज्ञ के) अन्त (अन्तिम पर्व रूप स्वाहा) से ही देवदेवताओं ने उस (ऋतुओं के) अन्त (अन्तिमपर्व रूप हेमन्त) को (असुराधिकार से) पृथक् कर लिया (था), अन्तद्वारा (स्वाहायाग-द्वारा) अन्त से (हेमन्त से) सपत्नों को निकाल बाहिर किया (था)। (सर्वोप-शर्म पूर्वम्) ॥१३॥

(हेमन्त ऋतुओं का अन्तिम पर्व है, उधर स्वाहा भी यज्ञ का अन्तिम पर्व ही है। इस स्वाहान्त से ऋतु-अन्त हेमन्त-पर अधिकार तो हो जाता है, परन्तु यह स्थापना यजमान के ऐहलौकिक जीवन के लिए प्रशस्त नहीं मानी जासकती। इस अन्तयाग-स्वाहायाग-लक्षण हेमन्तयजन से यज्ञान्तलक्षण स्वर्गावाप्ति ही सम्भव है। अपेक्षित यह है कि यज्ञ-कर्त्ता यजमान यावदायुर्भोगपर्यन्त ऐहलौकिक सुख

का भोग करता हुआ अनन्तर दैवात्माकर्षण से स्वर्ग प्राप्त करे। अनन्तर पुनः पुरुष योनि में जन्मधारण करे। क्या स्वाहायाग में ऐसा भी सम्भव है ?। प्रत्यक्ष में तो अपने अन्तभाव से हेमन्तयाग केवल तात्कालिक स्वर्गप्राप्ति का समर्थक बना हुआ है। इसी विप्रतिपत्ति का निराकरण करती हुई श्रुति कहती है कि यद्यपि यह ठीक है कि हेमन्त अन्तभाव का प्रवर्त्तक है। तथापि यह भी सिद्ध विषय है कि) हेमन्त से ही वसन्त पुनः प्राण धारण करता है, हेमन्त से ही वसन्त पुनः उत्पन्न होता है। जो याज्ञिक हेमन्त के इस पुनः प्राणाधान के रहस्य को जानता है, वह अवश्यमेव (यावदायुर्भोग पर्य्यन्त जीवित रहता हुआ ऐहलौकिक सुख का भी भोग कर लेता है, एवं स्वर्गफल के भोगानन्तर) इस लोक में भी (पुरुषयोनि में) जन्म लेता है (जैसे कि, हेमन्त के अनन्तर वसन्त जन्म लिया करता है)। (तात्पर्य्य-यही है कि, हेमन्त अवसानात्मक बनता हुआ भी जीवनोपयिक वसन्तोपक्रम का निमित्त है। इस भावना से अन्तभावनात्मक हेमन्तयाग-जनित अनिष्ट भावना की निवृत्ति होजाती है) ॥१४॥

अथमन्त्रसंग्रह —

१—समिद्याग——समित् (वसन्त)
२—तनूनपाद्याग—तनूनपात् (ग्रीष्म)
३—इड्याग——इड् (वर्षा)
४—बर्हिर्याग——बर्हि (शरत्)
५—स्वाहायाग—स्वाहा (हेमन्त)
}—पञ्चप्रयाजाः, पञ्चर्त्तवः

("स वै समिधो यजति" इत्यादि १ कण्डिका से आरम्भ कर "अथ स्वाहा स्वाहा यजति" इत्यादि १४ वीं कण्डिकापर्य्यन्त ब्राह्मणभाग से पञ्चप्रयाजों की इतिकर्त्तव्यता का विश्लेषण किया गया। अब आगे के शेष ब्राह्मणभाग में प्रयाजकर्म्म से सम्बन्ध रखने वाली कुछ एक उन विशेषताओं का स्पष्टीकरण किया जाता है, जिन के सम्बन्ध से प्रयाजयाग परोक्ष-प्रत्यक्ष-फलों का जनक बनता है। होता के द्वारा प्रयुक्त याज्या-मन्त्रों के अन्त में—१-२-३-४-५—इन पांच मन्त्रों के अन्तमें-क्रमशः १-व्यन्तु, २-वेतु, ३-व्यन्तु, ४-वेतु, ५-व्यन्तु' इस प्रकार व्यन्तु-वेतु पदों का सन्निवेश रहता है। यह विपर्य्यय क्यों, जब कि पञ्चत्त यागात्मक पञ्चप्रयाजयाग ऋतुसमानरूप-एवं प्रयाजसमानरूप-समान है। या तो पांचों याज्यामन्त्रों में वेतु-वेतु का ही समावेश होना चाहिए अथवा तो पांचों में 'व्यन्तु-

व्यन्तु' का ही समावेश रहना चाहिए। स्थिति-प्रदर्शनपूर्वक इसी विप्रतिपत्ति का निराकरण करती हुई श्रुति कहती है)—वह (अध्वर्यु होता के द्वारा आम्या मन्त्रों के क्रमिक) 'व्यन्तु, वेतु' इस (क्रम से उच्चरित होने पर ही) समिधादि करता है (यजन करता है) अजामिता के लिए ही। सिद्ध-को पुनः सिद्ध करना, उक्त को पुनः कहना ही जामि दोष है। इस पुनरुक्त दोष की निवृत्ति के लिए व्यन्तु-व्यन्तु, अथवा वेतु-वेतु रूप से यजन न कर व्यन्तु-वेतु, इसरूप से यजन किया जाता है, यही तात्पर्य्य है। इसी तात्पर्य्य को स्पष्ट करती हुई श्रुति कहती है कि) वह अध्वर्यु (अपने इस यज्ञ में) जामि (पुनरुक्तदोष का समावेश) करेगा, यदि वह व्यन्तु-व्यन्तु-रूप से यजन करेगा, अथवा तो वेतु-वेतु-रूप से यजन करेगा। (जामि दोषनिवृत्ति के साथ साथ इस व्यन्तु-वेतु विपर्य्यय का एक प्रासङ्गिक फल और भी है। यज्ञ से वैवात्मा का प्रजनन अपेक्षित है। प्रजनन कर्म्म योषात्मक-स्त्री-भ्रूण, एवं वृषात्मक-पुं भ्रूण, दोनों के दाम्पत्यभाव पर निर्भर है। व्यन्तु इस बहुवचनान्त पद से, वेतु इस एकवचनान्त पद से प्रजननसाधक-योषावृषात्मक वह मिथुनभाव भी प्राप्त हो जाता है। 'तस्मादेकस्य पुरुषस्य बह्व्यो जाया भवन्ति' इत्यादि श्रुति के अनुसार योषात्मिका स्त्री बहुत्वधर्म्म से, वृषात्मक पुरुष एकत्व से युक्त है। फलतः व्यन्तु से सम्मानितान-सम्पत्तिद्वारा योषा का, तथा वेतु से वृषा का संग्रह हो जाता है। इसी प्रासङ्गिक फल का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है)—'व्यन्तु, यह (बहुवचनान्तपद अपने बहुत्वधर्म्म से) निश्चयेन योषा (की प्रतिकृति बनता हुआ योषा प्राण का संग्राहक) है, 'वेतु यह (एकवचनान्त पद अपने एकत्वधर्म्म से) निश्चयेन वृषा (की प्रतिकृति बनता हुआ वृषाप्राण का संग्राहक) है। (व्यन्तु-वेतु रूप से किए जाने वाले प्रयाजयाग से योषा-वृषा के) मिथुनभाव से ही प्रजनन किया जाता है (प्रजननसम्पत्ति प्राप्त की जाती है)। इसलिए (अजामिता के लिए, एवं मिथुनभाव प्राप्ति के लिए, दूसरे शब्दों में पुनरुक्तदोष निवृत्ति के लिए, एवं प्रजनन सम्पत्ति के संग्रह के लिए वह अध्वर्यु) 'व्यन्तु-वेतु' इस (विपर्य्यय क्रम) से (ही) यजन करता (करना चाहिए) ॥१४॥

(पञ्चर्तु के भेद से पाँच प्रयाज बतलाए गए हैं। इन में से शरणागात्मक बर्हिनामक चौथे प्रयाज की इतिकर्त्तव्यता में एक विशेष धर्म्म का अनुगमन किया जाता है। 'पशुपभृति, प्रयाजानुयाजेभ्यस्तन्' तै० ब्रा० ३।३।६ इत्यादि कृष्णश्रुति के अनुसार शुद्ध की आधारभूता उपभृत नाम की स्रुक् में जो आज्य लिया जाता है उस से अनुरूप प्रयाजकर्म्म तथा छन्दोरूप अनुयाजकर्म्म, दोनों की इतिकर्त्तव्यता

पूरी की जाती है। पूर्व के २ प्रपाठके ४ ब्राह्मण में भी यह स्पष्ट किया गया है कि, आज्यग्रहण ऋतु, और छन्दोरूप प्रजाजामुयाजों के लिए ही होता है—"अथ वा-ज्यग्रहानि गृह्णन्त, ऋतुम्यश्चैव तानि, छन्दोभ्यश्च गृह्यन्ते"—शत० १।२ प्र० । ४ ब्रा० । ७ कं० । वहीं यह भी स्पष्ट किया गया है कि, 'ध्रुवा' पात्र में आठबार करके उपभृत् में चार बार कर के जुहू में आज्यग्रहण होता है। चतुर्वार गृहीत जुहूस्थित आज्य प्रयाजकर्म्म का, एवं अष्टवार गृहीत उपभृत्-स्थ आज्य अनुयाजकर्म्म का सम्पादक बनता है। जुहूस्थित आज्य से क्रमशः समिध्-तनूनपात्-इड्-बर्हिष्-नं सन्त-ग्रीष्म-वर्षा-इन तीन ऋतुदेवताओं का यजन तो बिना उपभृदाज्य से सम्बन्ध कराए केवल जुहूस्थित आज्य से ही कर लिया जाता है। चौथे बर्हिर्लक्षण शरद्याग के समय जुहू का उपभृत् से सम्बन्ध कराना आवश्यक माना गया है। तीसरे प्रयाज के समाप्त होने पर जुहू में उपभृदाज्य लेकर ही चौथा प्रयाज होता है। ऐसा क्यों किया जाता है? इसी प्रश्न का स्थिति-प्रदर्शनपूर्वक समाधान करती हुई श्रुति कहती है)—

तृतीय प्रयाजयाग समाप्त्यनन्तर यह अध्वर्यु चौथे 'बर्हि' नामक प्रयाज कर्म्म में (जुहू में उपभृत् से) आज्य ग्रहण करता है। बर्हि निश्चयेन (उत्तरोत्तर वृद्धिधर्म्म से) प्रजा है, आज्य रेत (वीर्य्य) है। (बर्हिर्याग में जुहू में उपभृत् से आज्य लेता हुआ) अध्वर्यु बर्हिरूप प्रजाओं में ही आज्यरूप रेत का सिञ्चन करता है (वीर्य्याधान करता है)। इस सिक्त रेत से (ही) प्रजाएँ पुनः पुनः जन्म लिया करती हैं। इसी लिए चौथे बर्हि नामक प्रयाज में (जुहू में उपभृत् से) आज्य लेता है। (तात्पर्य्य वस्तुतः यह है कि, प्रयाज कर्म्म के लिए जुहू से पाँच आहुतियाँ दी जाती हैं। अवश्य ही पाँच आहुतियों के लिए जुहूस्थित आज्यमात्रा अपर्य्याप्त है। अतएव प्रयाजकर्म्म के मध्य में एक बार उपभृत् से आज्य लेना आवश्यक हो जाता है। कब लेना?, यह प्रश्न है। 'वसन्तो ग्रीष्मो, वर्षाः, ते देवा ऋतवः'—'शरद्-हेमन्त-शिशिरः, ते पितरः'—शत० २।१।३।१ इत्यादि श्रुति के अनुसार अग्निप्राणप्रधाना अतएव देवदेवतात्मिका वसन्त-ग्रीष्म वर्षा, इन तीन ऋतुओं का एक स्वतन्त्र आग्नेय विभाग है। एवं सोमप्राणप्रधाना अतएव पितृदेवतात्मिका-शरद्-हेमन्त-शिशिर, इन तीन ऋतुओं का एक स्वतन्त्र सौम्य विभाग है। ऐसी स्थिति में वसन्त-ग्रीष्म वर्षात्मक समिध्-तनूनपात्-इड्-इन तीन प्रयाजों का तो अविच्छिन्नरूप से बिना उपभृत् से दुबारा आज्य लिए ही यजन करना प्रकृतिसिद्ध बन जाता है। चौथे प्रयाज से शिशिरात्मक बर्हि नाम की सौम्यऋतु का उपक्रम

होता है। अतएव इसी में आज्यग्रहण करना सुसङ्गत बनता है। इस के साथ ही निशान भावसे प्रजाओं में रेतःसेक भी होजाता है, ओकि दैवात्मप्रजनन में अपनी प्रधानता रख रहा है। इसीलिए चतुर्थप्रयाज में ही आज्यसमानयन किया गया है, जैसा कि विवेचना प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है) ॥१६॥

(चतुर्थप्रयाज में आज्यग्रहण करना ऋतुस्वरूपानुगत बनता हुआ प्रकरणानुगत है, प्रजाओं में रेत का आधान करता है, इन दो अतिशयों के अतिरिक्त इस के यहां ग्रहण का एक फल और भी स्वतः सिद्ध है। उसी का विश्लेषण करती हुई श्रुति कहती है)—जो अध्वर्यु इन पांच प्रयाजों से (ऋतुओं का) यजन करता है, वह (पूर्वाख्यानानुसार सम्वत्सरमण्डल में प्रविष्ट शत्रुओं को पराजित करने के लिए) सग्राम ही ठान रहा है। दो दलों के सग्रामाभिमुख होने पर जिस एक दल को मित्रसेना का सहयोग प्राप्त हो जाता है, वह जीत जाता है। (ठीक इसी के अनुरूप यह आज्य-ग्रहणकर्म्म है) इस आज्यग्रहण कर्म्म से जुहू को उपभृदाज्यरूप मित्र मिल जाता है। (जुहूस्थित आज्य वह सेनादल है, जिसे असुरपराभव करना है। उपभृत् स्थित आज्य वह मित्रसेना है, जिसके सहयोग मिलने पर असुरपराभव निश्चित है) इसी मित्रसेना-सहयोग प्राप्ति के लिए (भी) चौथे 'बर्हि' नामक प्रयाज में ही आज्यसमानयन करता है ॥१७॥

(प्रयाजकर्म्म वह संग्राम कर्म्म है, जिस के द्वारा यजमान के स्वर्गफलभोक्ता दैवात्मा के भोग्य सम्वत्सर में से असुरों को पराजित करना है। शत्रु को निर्बल बनाना ही शत्रुपराभव का मूलकारण है। मित्रसेना की सहयोगप्राप्ति, स्वस्थानस्थिति, आदि अन्यान्य कारणों में से शत्रुपराभव का एक यह भी अन्यतम कारण माना गया है कि, शत्रुसेना में भेदनीति डालते हुए उसे अपनी सेना में मिला लेना। उस के बल को अपना भोग्य बना लेने से अवश्य ही वह निर्बल होजायगा। इसी एक चार प्रयोजन का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है)—यजमान जुहू को लक्ष्य बना रहा है। यजमान के लिए जो शत्रुता करता है, वह (यजमान के शत्रुदल) उपभृत् को लक्ष्य बना रहा है। (अर्थात् जुहूस्थित आज्य निदानतः यजमान का सैन्य दल है, (उपभृत् से जुहू में आज्य लेता हुआ (अध्वर्यु) द्वेष करनेवाले शत्रु (सेना-दल) को यजमान के लिए ही बलिरूप से आकर्षित करता है (शत्रुबल का यजमान बल में समावेश कराता हुआ यजमान को सशक्त बना रहा है)। अपिच (एक प्रयोजन यह भी है कि)—जुहू अत्ताभाव को, उपभृत् आज्यभाव को लक्ष्य बना रही है। (उपभृत् से जुहू में आज्यग्रहण करता हुआ) अध्वर्यु भोक्ता यजमान के

लिए भोग्य सामग्री पहुँचा रहा है। (इस प्रकार महत्त्वपनुगत अनुभाव, प्रजाओं में वीर्य्याधान, मित्रसेनाप्राप्ति, शत्रुबल की मित्ररूप में परिणति, सौम्यसम्पत्प्राप्ति इत्यादि अनेक दृष्टियों से चौथे प्रयाज में ही आज्यग्रहण करना अन्वर्थ बनता है)- 'तस्माच्चतुर्थे प्रयाजे समानयति' ॥१८॥

(उपभृत, और तत्रस्थ आज्य निदानेन शत्रुसैन्यबल है, यह कहा गया है। साथ ही इस आज्य के समानयन का यह भी फल बतलाया गया है कि, शत्रुसैन्यबल को भेदनीतिद्वारा यह अपना बलि बना लेता है। भेदनीति से सम्बन्ध रखने वाला यह प्रकार तभी सफल होता है, जबकि सैन्यदल के सम्पर्क में न आकर तटस्थ रहते हुए, अपने स्थान में रहते हुए, पृथक् रहते हुए ही परोक्षरूप से उसे अपने दलमें मिलाया जाय। निकटसम्पर्क में आना शत्रुबल में फँसना है। और सम्भवतः ऐसा करना कभी कभी पराजय का कारण भी बन जाता है। इसलिए) वह अध्वर्यु (जुहूमें उपभृत से आज्यग्रहण करने की कामना रखता हुआ) जुहू को उपभृत से पृथक् रखता हुआ ही आज्यसमानयन करता है। यदि वह अध्वर्यु जुहू को उपभृत से मिला देगा, (स्पर्श कराता हुआ आज्यग्रहण करेगा) तो (अपने इस अवमर्शन से) वह शत्रु के साथ यजमान को मिला देगा (शत्रुसेना में अपनी सेना का बल नाश करने वाला बनता हुआ इष्टसाधन के स्थान में अनिष्ट कर बैठेगा)। (इसके अतिरिक्त इसी अवमर्शन से) यह अध्वर्यु अत्ता (भोक्ता) का आद्यसे मिला देगा (भोक्ता को भोग्य के आधीन करदेगा, जबकि भोग्य का भोक्ता के आधीन रहना समृद्धि का कारण माना गया है। ऐसा न हो) इसलिए अनवमृशन् (जुहू को उपभृत से स्पर्श न करता हुआ) ही आज्य ग्रहण करता है (करना चाहिए) ॥१६॥

(उपभृत के साथ स्पर्श न कराते हुए जुहू में अब उपभृत से आज्य ले लिया जाता है तो जुहू को किस स्थिति में रक्खा जाय ?, यह जिज्ञासा इसलिए होती है कि, जुहू-उपभृत, दोनों सक् सामान्यधर्म सहयोगिनी मानी गई हैं। क्या जुहू को उपभृत से अलग रखकर में अध्वर्यु-हाथ में लिए रहे ?। श्रुति कहती है-नहीं। अपितु) आज्यग्रहणानन्तर (अथ) वह अध्वर्यु गृहीताज्या उस जुहू का उपभृत के ऊपर (उपभृत से न मिलता हुआ) थाम रखता है (उपभृत से ऊर्ध्व प्रदेश में ही जुहू का हाथ में लिए रहना चाहिए)। (जुहू को उत्तर रूप से रखता हुआ) अध्वर्यु यजमानशत्रु की समुपस्थिति में यजमान को ऊँचा ही रखता है। अत्ता का आद्यसमुपस्थिति में ऊँचा ही रखता है। तात्पर्य, जुहू निदानेन यजमान है, अत्ता है। उपभृत यजमानशत्रु है आद्य है। ऐसी स्थिति में जुहू का उपभृत से नीचे

रखना-यजमान को, भोक्ता को यजमानशत्रु के, भोग्य के नीचे रखना होगा, जो महा अनिष्टकर है। 'ऐसा न हो, अपितु यजमान अपने शत्रु से ऊंचा रहे, भोक्ता भोग्य के ऊपर रहे)—'तस्मादुत्तरां जुहुमभ्यूहति' ॥२०॥

(१५ वीं कण्डिका से आरम्भकर २० वीं कण्डिका पर्यन्त ६ कण्डिकात्मक ब्राह्मण भाग में प्रयाजकर्म्म से सम्बन्ध रखने वाली अन्नु-वेत्तु, चतुर्थप्रयाज में आज्यसमानयन, अनवमर्शपूर्वक समानयन, आज्यग्रहणानन्तर जुहू का उत्तर अभ्यूहन, आदि विशेषताओं का सोपपत्तिक निरूपण किया गया। अब स्वाहायागात्मक इसन्तयाग नामक पांचवें प्रयाज से सम्बन्ध रखने वाली विशेषता का एक ऐतिहासिक आख्यान के द्वारा विश्लेषण करती हुई श्रुति कहती है)—"(भौमस्वर्गनिवासी मनुष्यविध भौमदेवताओं नें प्रयाजों से सम्वत्सरसम्बद्ध-प्रकृतिविरूपा भौम-त्रिलोकी पर अपना अधिकार कर लिया। देवता जीत गए, असुर पराजित होगए। इस विजय प्राप्ति क अव्यवहितोत्तर काल में ही) उन देवदेवताओं में परस्पर की मन्त्रणा से निश्चय कर अपना यह मन्तव्य प्रकट किया कि, क्या ही अच्छा हो (हन्त), यदि अपन (प्रयाजयागद्वारा) विजित (अपने अधिकार में आए हुए यज्ञ) को लक्ष्य बनाकर (इस प्रयाजयाग के साथ ही) सम्पूर्ण यज्ञकर्म्म पूरा कर डालें। (ऐसा करने से, यहीं यज्ञ को सर्वात्मनापूर्ण करने से, फल यह होगा कि) यदि इस के अनन्तर (यज्ञपूर्णतासिद्ध्यनन्तर) असुर-राक्षस अपने (यज्ञ) पर आक्रमण करेंगे (विघ्न डालेंगे), तबभी अपना यह यज्ञ पूर्ण ही बना रह जायगा। इसी निश्चय क अनुसार ॥२१॥—

उन देवदेवताओंनें पांचवें प्रयाजानुष्ठान में 'स्वाहा', कार से ही सम्पूर्ण यज्ञ पूरा कर लिया। 'स्वाहा अग्निम्' इस से आग्नेय आज्यभाग को पूरा कर लिया। 'स्वाहा सोमम्' इस से सौम्य आज्यभाग को पूरा कर लिया। 'स्वाहा अग्निम्' इस से, जो कि उभयत्र अच्युत आग्नेय पुरोडाश होता है—(विहित है) उसे पूरा कर लिया ॥२२॥—

(पौर्णमासेष्टि, किंवा दर्शेष्टि, क अनुरूप जो यजनीयदेवता विहित हैं, उनका भी) देवताक्रमानुसार यजन कर लिया। 'स्वाहा देवा आज्यपा' इस से प्रयाजानुयाज-देवताओं को पूरा कर लिया। प्रयाजानुयाज देवता ही (अनुदृश्य ही) तो (आज्याहुति के कारण) आज्यपा (घृतपान करने वाले) हैं। 'जुषाणो अग्निराज्यस्य वेतु' इसमें स्विष्टकृत् अग्नि को पूरा कर लिया। अग्नि ही

स्विष्टकृत् है—"अग्निर्हि स्विष्टकृत्" ॥ (व्याख्यान का विशदीकरण तो विवेचन प्रकरण से ही सम्बन्ध रखता है। प्रकरणसङ्गति के लिए प्रकृत में इस सम्बन्ध में यही कह देना पर्य्याप्त होगा कि, प्राकृतिक नित्य यज्ञ के आधार पर वितायमान वैधयज्ञ का अनुगमन सर्वप्रथम भौमस्वर्ग निवासी भौम-मनुष्यविध-देवताओंने किया था। उनके यज्ञकर्म्म पर मनुष्यविध असुर समय समय पर आक्रमण किया करते थे। कभी कभी इन असुराक्रमणों से भौमदेवताओं का यह यज्ञकर्म्म अधूरा ही रह जाता था। इस विप्रतिपत्ति के निराकरण के लिए देवताओंने जिस तात्कालिक प्रणाली का आविष्कार किया, उसी का व्याख्यान द्वारा स्पष्टीकरण हुआ है। प्रयाजभागान्त में उस प्रणाली के अनुगमन से उन का यज्ञ एक प्रकार से इसलिए पूर्ण-हो गया कि, कृत्स्न यज्ञ में जिन जिन देवताओं का यजन अपेक्षित है, उन सबका स्वाहाकारात्मक पञ्चमप्रयाज कर्म्म में अनुप्रवेश है। अतएव स्वाहान्त पञ्चमप्रयाज पूर्णयज्ञ का प्रतिनिधि बन रहा है। मान लीजिए, कोई ऐसा अप्रत्याशित विघ्न उपस्थित हो गया, जिससे प्रयाजानन्तर यजमान अन्य यज्ञेतिकर्तव्यता पूरी न कर सका। क्या ऐसी स्थिति में उसका प्रयाजान्त कर्म्म व्यर्थ चला जायगा ?, पूर्णयज्ञ द्वारा जो अतिशय इसे मिलने वाला था, क्या उस से यह सर्वथा वञ्चित रह जायगा ?। श्रुति कहती है—नहीं। पञ्चमप्रयाज में जिस इति-कर्तव्यता का अनुगमन किया जाता है, उसी से अंशतः इसे वह यज्ञातिशय प्राप्त हो जाता है, जिस के लिए इसे प्रयाजानन्तर अन्यान्य शेष कर्म्म और करने पड़ते हैं। असुर विघ्नों से संत्रस्त भौमदेवता भी तो इसी प्रणाली से प्रयाजान्त कर्म्म से ही यज्ञेतिकर्तव्यता पूर्ण बना लेते थे)—

ठीक उसी प्रकार (प्रयाजान्त में विहित, भौमस्वर्गीय मनुष्यविध देवताओं के द्वारा आविष्कृत उसी प्रणाली[1]—पद्धति—के अपने प्रयाजान्त में अनुगमन से) आज भी (यजमान का) यह (इष्टिलक्षण वैध) यज्ञ, उसी प्रकार (तथैव) पूर्ण हो जाता है, जैसे कि (जिस पद्धति के अनुगमन से) इस यज्ञ को (अपूर्ण भी यज्ञ को) भौमदेवताओंने पूर्ण कर लिया था। (यही स्वाहाकारान्त अन्तिम-पाँचवें-प्रयाज से सम्बन्ध रखने वाली पूर्व प्रतिज्ञात विशेषता है। स्वाहात्मिका पद्धति से सम्बन्ध रखने वाली उस उक्त विशेषता के अनुगमन से प्रयाजान्त में ही यजमान का यह अकृत्स्न भी यज्ञ कृत्स्न बन जाता है) इसी लिए (अकृत्स्न भी यज्ञ की मध्य में ही-प्रयाजान्त में ही-कृत्स्नता सम्पादन के लिए) वह जो यहाँ पाँचवें प्रयाज में 'स्वाहा-स्वाहा' पूर्वक जितनी भी हवि होती है, उन सब

का यजन करता है। (यज्ञस्वरूपसम्पादक अन्यान्य सभी समाप्त देवताओं के लिए आहुति देता हुआ, तद् द्वारा सर्वसंग्रह करता हुआ हेमन्तयाग का यजन करता है)। इस (स्वाहा-स्वाहास्मिका सर्वदेवयजनात्मिका पञ्चम प्रयाजाहुति के प्रभाव) से यह अध्वर्यु (पञ्च-प्रयाजयाग से) विजित यज्ञ सम्पत्ति को लक्ष्य बनाता हुआ सम्पूर्ण यज्ञ पूरा कर लेता है—'तदनु सर्वं यज्ञं संस्थापयति' ॥

(यह नियम है कि, जबतक यज्ञेतिकर्त्तव्यता पूर्ण नहीं हो जाती, तबतक गमनागमन-भाषण स्पर्श-आदि के सम्बन्ध में विशेष नियमों का अनुगमन करना पड़ता है, जैसा कि—'अनवसृजन्नसमानयति'—'न वै सर्वेण संवेदन' इत्यादि आदेशों से स्पष्ट है। यज्ञ के पूर्ण होजाने पर इन नियम-बन्धनों की कोई आवश्यकता नहीं रहती। स्वाहाकारात्मक अन्तिम प्रयाज यागानन्तर यज्ञ पूर्ण होजाता है। अतएव इस से आगे जो भी शेष कर्म बच रहते हैं, उन के सम्बन्ध में नियम-बन्धन का विशेष महत्त्व नहीं रह जाता। उस अवस्था में यदि किसी किसी नियम का उल्लंघन हो जायगा, तब भी कोई अनिष्ट न होगा यही तात्पर्य्य है। इसी का विश्लेषण करती हुई श्रुति कहती है)—(प्रयाजान्त कर्म्म यज्ञपूर्णताप्रवर्त्तक है, नियमानुगमन तत्पूर्णतापर्य्यन्त ही अपेक्षित है) इसलिए इस से आगे (प्रयाजकर्म्मानन्तर होने वाले कर्म्मों में) ऋत्विक् (किंवा यजमान) यदि (अपने स्वाभाविक अनुभाव से) कुछ विलास (असावधानी) कर बैठे, तो उसे विशेष महत्त्व नहीं देना चाहिए। उस को (प्रयाजानन्तर) यह समझ लेना चाहिए कि, मेरा यह यज्ञ कर्म (तो प्रयाजयाग से ही) पूरा होगया—"संस्थितो यज्ञ इति ह विद्यात्"।

(स्वाहाकृत एवं वषट्कृत यज्ञ जैसे यातयाम-गतरस-बन जाता है, तद्वत् प्रयाजलक्षण यह इष्टिकर्म्म, किंवा इष्टिप्रधानत्वमुक्त प्रयाजकर्म्म भी वौषट्-स्वाहा-माहात्म्य से यातयाम बन जाता है। वौषट्कार वाङ्मण्डल के अवसान का सूचक है। एवमेव स्वाहाकार भी 'स्वं वागाह' निर्वचनानुसार वाङ्मय यज्ञ के अवसान का ही सूचक बन रहा है जैसा कि विवेचना प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। वाग्रस का वाङ्मय वषट्कार, वाङ्मय स्वाहाकार से निर्गमन होजाता है। यही वाङ्मय यज्ञ का रसशून्य बन जाना है। ऐसा नीरस यज्ञ ही गतरस बनता हुआ यातयाम कहलाया है। वषट्-स्वाहा-से अग्रकान्त-द्युलोक की ओर गतवाङ्मय-वाग्निमय-यज्ञरस यज्ञपूर्णता-समाप्ति-के अनन्तर पुनः यजमानात्मा में प्रविष्ट होजाय, इस पुनः रसप्रवृत्ति से यातयाम यज्ञ पुनः अयातयाम-वाग्रसपरिपूर्ण-बन जाय इस प्रयोजन के लिए एक 'स्विष्टकृद्याग' नाम का कर्म्मविशेष विहित है।

वागग्नि ही शेषाहुति से तृप्त होकर यज्ञ को 'स्विष्ट'-रसयुक्त बनाते हैं। अतएव इन्हें 'स्विष्टकृत्' कहा जाता है। अतएव तदाहुतिकर्म्म 'स्विष्टकृद्याग' कहलाया है। यज्ञ प्रयाजकर्म्म से सम्बन्ध रखने वाली वौषट्-स्वाहा व्याहृतियों से आज प्रस्तुत यज्ञ भी यातयाम बन रहा है। स्विष्टकृद्याग होता है—यज्ञान्त में। ऐसी दशा में इस की वर्त्तमान यातयामता के निराकरण का क्या उपाय ?, इसी प्रश्न का ऐतिह्य कारणानुगत स्थिति-प्रदर्शनपूर्वक समाधान करती हुई श्रुति कहती है)—

जिस प्रकार वषट्कृत हुत, स्वाहाकृत हुत (वौषट् स्वाहा पूर्वक दी जाने वाली आहुति से युक्त कर्म्म यातयाम बन जाता है, इसी प्रकार वौषट्-स्वाहापूर्वक आज्याहुति होने से प्रयाजान्त से संस्थित होने वाला) यह यज्ञ यातयाम ही रह गया (यज्ञ का वाग्रस द्युलोक की ओर चला गया) ॥३॥

(इस प्रकार प्रयाजान्त में संस्थित-पूर्ण-होने वाले यज्ञ को वौषट्-स्वाहाकार के सम्बन्ध से यातयाम बना देख कर) उन भौम देवताओंने यह कामना प्रकट की (विचार विमर्श किया) कि, अपन कैसे इस (नीरस) यज्ञ को पुनः आप्यायित (रस से परिपूर्ण) करें ?, (रस समावेश के द्वारा कैसे-किस पद्धति से इस अयातयाम बनावें ?, एवं अयातयाम बने हुए यज्ञ से कैसे जीवनयात्रा का निर्वाह करें ? ॥ ४॥

(अपनी उक्त कामनाओं को काम्यरूप में परिणत करने के लिए, यातयाम यज्ञ को अयातयाम बनाने के लिए, उन देवताओं ने यह किया कि) जो प्रयाजाहुति के अनन्तर जो आज्यमात्रा जुहू में बची रह गई थी, जिस जुहुस्थित आज्य (आज्याहुति) से देवताओंनें (प्रयाजयाग के द्वारा) यज्ञ पूर्ण किया था, उसी (आहुत्यनन्तर बाकी बचे हुए उच्छेष) आज्य से ही यथापूर्व-(अन्तिम प्रयाज विहित आहुतियों की भाँति तत्तद्देवताओं के लिए) आज्य हवियों का आघार करते हुए (यातयाम बन हुए उन वाङ्मय दवों का पुनः आप्यायित कर दिया, अया तयाम बना दिया। आज्य (वाग्निग्न रसात्मक होने से) अवश्य ही अयातयाम रसपूर्ण होने से स्वयमपि अयातयाम, अन्य यात यामों में भी रसप्रदान करता हुआ वहाँ भी अयातयाम बनाने वाला) है। (इस प्रकार भौम देवताओं नें परिशिष्ट-अयातयाम-आज्याहुति से यातयाम यज्ञ को पुनः अयातयाम बना लिया। तद्वदेव यजमान का प्रस्तुत प्रयाजान्त यज्ञ भी वौषट्-स्वाहा-द्वारा हुत होने से आज यातयाम बन गया) इसीलिए (इस पुन अयातयाम बनाने के लिए ही) उत्तम (पाँचवाँ)

हित है। इसी प्राणसमिन्धन कर्म्म का अपने शब्दों में स्पष्टीकरण करते हुए श्रुति ने कहा है)—समिधार्यं निस्मयेन प्राण हैं। (इस सन्निधान कर्म्म से-प्रथमप्रयाज से) वह अध्वर्यु (देवात्मा के आध्यात्मिक भी) प्राणों को ही प्र वलित जीवनीयरस स युक्त करता है। (समिद्ध) प्राणों से ही यह पुरुष (शरीरपुराभिमानी भालोमम्य:, भानसाप्रेम्य:, सर्वाङ्गशरीर में व्याप्त शरीराभिमानी वैश्वानरैकाग्निमूर्त्ति प्राणात्मा-कर्म्मात्मा) समिद्ध है। (क्योंकि समिधाग से यजमानात्मा क प्राणों का समिन्धन होता है, अतएव इस समिधाग स आग्नेयताप भी एक विशेष प्रक्रिया से हटाया जासकता है, यही इस समिधाग का काम्यफल माना गया है। प्राणसमिन्धन की कमी से ही प्राणाग्नि केन्द्र से विच्युत होजाता है। प्राणाग्नि क केन्द्र से विच्युत होकर शरीराभिमुख बन जाने का ही नाम उपताप है, उपताप की परमावस्था ही व्यापता-लक्षण सन्ताप-ज्वर-दाह-है। यदि इस समय यजमान उपतापी है, यजमान को ज्वर है, तो समिधाग के द्वारा वह हटाया जासकता है। इसी अभिप्राय स श्रुति कहती है)—(क्योंकि पुरुषाग्नि प्राणों स समिद्ध रहता है, इधर समिधाग प्राण समिन्धक है) इसलिए वह अध्वर्यु (होताके द्वारा प्रयुक्त सन्निद्दे बताक याज्यामन्त्र के साथ होने वाले अपने समिधाग कर्म्मानुष्ठान काल में) यजमान स यह प्रैष कर (कह) कि हे यजमान! तुम (समिद्द्वारा अपने प्राण-समिन्धन का ध्यान करत हुए) अपने शरीर का स्पर्श करो, यदि यजमान उपतापी हो तब। (अर्थात् उपतापदशा में ही यजमान को स्पर्श करना चाहिए)। (साथ ही स्वयं अध्वर्यु भी यही भावना करे, इसी अध्वर्यु कृत भावना को स्पष्ट करती हुई श्रुति कहती है)—यदि वह यजमान आर्त्त हो, तो अध्वर्यु भी यही आशंसन (ध्यान कर (क्योकि, इस मेरे स.मधाग स प्राणसमिन्धनद्वारा यजमान का ताप शान्त हो)। (अध्वर्यु क इस आशंसन से, साथ ही अपनी भी भावना स) वह यजमान (अवश्यमेव) समिद्ध हो जाता है। (प्राणसमिद्ध होते हुए केन्द्राभिमुख बनते हुए आग्नेयतापशान्ति के कारण बन जाते हैं))। यदि यजमान शीत (तापरहित, स्वस्थ) है, तो (उस दशा में न तो यजमान अपना स्पर्श ही करे, एवं न अध्वर्यु आशासन ही करे)। (इ स प्रत्यक्ष दृष्ट फल से भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, समिध अवश्यमेव आध्यात्मिक प्राणों को समिद्ध करती हैं) अतएव (कहा जा सकता है कि) अपने इस सन्निधाग स (अध्वर्यु यजमानात्मा में (स्थित) प्राणों का ही समिन्धन करता है। (पूर्वब्राह्मण में प्रतिपादित आधिदैविक सम्वत्सर के प्रथम वसन्त पर्वसमिन्धन क साथ साथ) आध्यात्मिक प्राणसमिन्धन-कामना क लिए (भी) यह समिधाग करता है ॥१॥

(२)—यह (अध्वर्यु समिधाग के) अनन्तर (होता के-'तनूनपादग्न आज्यस्य वेतु वौषट्' इस तनूनपाद्देवताक याज्यामन्त्र के उच्चारण करने पर उसके 'वौषट्' उच्चारण के साथ आहवनीयाग्नि के समिद्ध प्रदेश में आज्याहुति के द्वारा क्रमप्राप्त दूसरे) तनूनपात् (नामक प्रयाज) का यजन करता है। तनूनपात् निश्चय से रेत (वीर्य्य-शुक्र) है (क्योंकि सप्तम धातुभूत रेत ही शरीर को न गिरने वाला हुआ तनूनपात् है)। (इस तनूनपाद्याग से) वह अध्वर्यु (दैवात्मा में प्रजनन-धर्म्म के समावेश के लिए) रेत सेक ही करता है। (पूर्व ब्राह्मण में प्रतिपादित आधिदैविक सम्वत्सर के द्वितीय ग्रीष्म पर्वसमिन्धन के-साथ साथ) आध्यात्मिक रेत सेक प्राप्ति के लिए (भी) यह तनूनपाद्याग का अनुष्ठान करता है ॥२॥

(३)—यह (अध्वर्यु तनूनपाद्याग के) अनन्तर (होता के—'इडो अग्न आज्यस्य व्यन्तु वौषट्' इस इड्देवताक याज्यामन्त्र के उच्चारण करने के अनन्तर उस के 'वौषट्' उच्चारण के साथ आहवनीयाग्नि के समिद्ध प्रदेश में आज्याहुति के द्वारा क्रमप्राप्त तीसरे) इट् (नामक प्रयाज) का यजन करता है। इट् निश्चयेन प्रजा है। जिस समय-(नवमासानन्तर 'एषयावज्ञ' नामक प्रसववायु की नोदना से, नवमास पूर्व योषाग्नि में वृषा द्वारा) सिक्त रेत (प्रजारूप से) उत्पन्न होता है (भूमिष्ठ बनता है), उत्पत्ति के अव्यवहितोत्तरक्षण से ही वह (उत्पन्न प्रजा) (अन्नकामना से) इडमयी-(अन्नमयी) सी बन कर अन्न की इच्छा करती हुई विचरने लगती है (उत्पत्त्यनन्तर ही अन्न की ओर प्रवृत्त होजाती है)-(तनूनपाद्याग के द्वारा सिक्त रेत का प्रजारूप से प्रजनन अपेक्षित है, प्रजनन उत्तरभावी, साथ ही इट्-अन्न-अभिमुख है। अतएव अन्नेच्छात्मक इस उत्तरभावी प्रजननकर्म्म के लिए ही तनूनपाद्यागानन्तर इट्-याग आवश्यक है। पूर्वब्राह्मण में प्रतिपादित आधिदैविक सम्वत्सर के तृतीय वर्षापर्व समिन्धन के साथ साथ उत्तरभावी) आध्यात्मिक इस प्रजनन फल को ही लक्ष्य बना कर श्रुति कहती है कि) इस (इड्याग से) यह अध्वर्यु (विश्व प्रजा को) ही उत्पन्न करता है। इसी लिए (प्रजोत्पत्ति के लिए) इड्याग करता है ॥३॥

(४)—वह (अध्वर्यु, इड्याग के) अनन्तर (होता के—'बर्हिरग्न आज्यस्य व्यन्तु वौषट्' इस बर्हिर्देवताक याज्या मन्त्र के उच्चारण करने पर उस के 'वौषट्' उच्चारण के साथ आहवनीयाग्नि के समिद्ध प्रदेश में आज्याहुति द्वारा क्रम प्राप्त चौथे) बर्हि (नामक प्रयाज) का यजन करता है। बर्हि निश्चयेन भूमा

प्रयाजयाग कर के (करने के अनन्तर ध्रुवशेष आज्य से) यथापूर्व हवियों का आधार करता है। इस आघार कर्म्म से यह देवताओं को पुनः आप्यायित, अयातयाम करता है। आज्य (पूर्व कथनानुसार) अवश्य ही अयातयाम है—'अयातयाम ह्याज्यम्'॥ (शेष आज्याघार से यातयाम यज्ञ आप्यायित होता हुआ अयातयाम बन जाता है) अतएव (यज्ञपद्धति में यह नियम बन गया है कि) जिस किसी भी देवता के लिए (देवात्मक यज्ञकर्म्म के लिए) ऋत्विक् हवि का विभाजन करता है (प्रदान करता है), उस के सम्बन्ध से तच्छेष के पुनः स्विष्टकृत (यतन्नात्मक अग्निविशेष) के लिए अभिघार करता है। (इस अभिघार से) वह उस यज्ञ को पुनः आप्यायित, अयातयाम बनाता है। यदि स्विष्टकृदग्नि के लिए (अयातयामसम्पत् तात्पर्य) हवि का विभाजन पहिले से ही कर देता है, (तो उस अवस्था में) पुनरभिघार अनावश्यक है। (तात्पर्य्य इस कथन का यही है कि—कृत्स्न इष्टि कर्म्म में तो पहिले से ही स्विष्टकृदग्नि के लिये भाग नियत रहता है। अतः इसकी समाप्ति पर पुनरभिघार नहीं होता। अभिघार तो वहां आवश्यक है, जहां पहिले से स्विष्टकृदग्नि के लिए अवदान विहित नहीं है। प्रकृत स्थल ऐसा ही है। अतः यहां अवश्य ही अभिघार अपेक्षित है। जहां पहिले से अवदान नियत है, वहां आहुतिकर्म्म समाप्त्यनन्तर) अग्नि में और किसी हवि की आहुति की अपेक्षा नहीं रखता है। (अपेक्षा नहीं रह जाती)—"नो हि तत: काञ्चन हविषोऽन्यामाहुतिं होष्यन् भवति" ॥२४॥

इति–प्रयाजब्राह्मणम् (३)

—•—

पांचवें अध्याय में तीसरा, चौथे प्रपाठक में चौथा ब्राह्मण समाप्त
(१।५।३)—(१।४।४)
(१—त्रिब्राह्मणात्मक प्रयाजब्राह्मण में प्रथम ब्राह्मण समाप्त)

—१—

प्रथमकाण्ड में पाँचवें अध्याय में चौथा, चौथे प्रपाठक में पाँचवां ब्राह्मण

(१।५।४)—(१।४।५)

(२—त्रिब्राह्मणात्मक प्रयाजब्राह्मण में क्रम प्राप्त द्वितीय ब्राह्मण

४—प्रयाजाहुत् (पद्धति)

प्रकृत ब्राह्मण में प्रयाजाहुत् (पद्धति), और प्रयाजानुमन्त्रण, इन दो प्रकरणों का समावेश हुआ है, जिन्हें पूर्वब्राह्मणोक्त तीन प्रकरणों (१—प्रयाजवस्तु, २—उत्तरप्रेप, ३—प्रयाजब्राह्मण, इन तीन प्रकरणों) की दृष्टि से—४—५ वें प्रकरण मान जासकता है। इन में चौथे प्रस्तुत प्रयाजाहुत् प्रकरण में प्रकारान्तर से उस कर्मपद्धति का ही निरूपण हुआ है, जिस का पूर्वब्राह्मण के 'प्रयाजब्राह्मण' नामक तृतीय प्रकरण की ८ वीं कण्डिका से १४ वीं कण्डिकापर्य्यन्त ७ कण्डिकाओं में विभिन्न दृष्टिकोण से प्रतिपादन हुआ है। उस पूर्वपद्धति प्रकरण में बतलाई गई उपपत्ति का प्रधान लक्ष्य आधिदैविक सम्वत्सरसम्बन्ध था। एवं प्रकृत प्रकरण में बतलाई जाने वाली उपपत्ति का प्रधानतः आध्यात्मिक प्रपञ्च से सम्बन्ध है। पद्धत्यंश उभयत्र समान है, केवल उपपत्तिप्रदर्शन में विभिन्नता है। इस विभिन्नता को लक्ष्य बनाकर ही निम्न लिखित श्रुति—प्रकरण का समन्वय करना चाहिए—(देखो प्रकरणसङ्गति)।

(१)—वह (अध्वर्यु नामक ऋत्विक् होताके—'समिधो अग्न आज्यस्य व्यन्तु वौषट्' इस समिद्देवताक याज्यामन्त्र के उच्चारण करने पर उस के 'वौषट्' उच्चारण के साथ आहवनीयाग्नि के असमिद्ध—प्रज्वलित—भाग में स्रुवस्थित आज्याहुति के द्वारा क्रमप्राप्त पहिले (समिधा समिद् नामक प्रथम प्रयाज) का यजन करता है (समिद्याग सम्पादन करता है)। (समिद्याग क्यों किया जाता है ?, मरम की आध्यात्मिक उपपत्ति बतलाती हुई श्रुति कहती है कि, सु गार्हपत्यकर्म से देवात्मा में जिन ६ आध्यात्मिक प्राणों का आधान हुआ है‡, देवात्मप्रतिष्ठित उन प्राणों के समिन्धन के लिए ही,—आध्यात्मिक—प्राणसमिन्धन के लिए ही—यह समिद्याग कि

---

* 'समिद्धोमेन ह्येव समिद्धाः (समृद्धा वा) आहुतयः'—शत० ७।८।३ ७।

‡ "या वाभ्यता मध्याहवनो (सु गार्हपत्यनियतप्राणस्य) भवन्ति। यदेमे पुरुषे प्राणाः। प्राणानेवास्मिन् (यजमानसम्बन्धे देवात्मनि) एतद् (सु गार्हपत्यकर्मणा) दधाति"—शत १।५।२।५।

(बहुत्वसम्पत्ति से युक्त) है। (बर्हि-धर्म-का भूमाभाव इस के संख्या बहुत्व पर, एवं इरणधर्म्म पर ही अवलम्बित है) । (उत्पन्न प्रजा का भूमा प्रजावृद्धि रूप से भी अभीष्ट है, एवं प्रत्येक प्रजा के बहुयशो भाव से भी अपेक्षित है। इस्याग से प्रजा उत्पन्न की गई है। अब अपेक्षित उभयविध भूमा-भाव का भी उत्पन्न प्रजा में आधान होना चाहिए। बर्हि भूमाधर्म्म से युक्त है। पूर्वब्राह्मण में प्रतिपादित बा पिशैविक सम्वत्सर के चतुर्थ शरत्-पर्व समिन्धन के साथ साथ) आध्यात्मिक इस भूमाभाव-फल प्राप्ति के लिए (भी) यह अध्वर्यु बर्हि का यजन करता है ।।४।।

(५)—वह (अध्वर्यु, बर्हियाग के) अनन्तर (होता के—"स्वाहाग्निम्, स्वाहा सोमम्, स्वाहाग्निम् स्वाहा देवाँ आज्यपान्, स्वाहाग्निं होत्रा जुषाणा-अग्न आज्यस्य व्यन्तु वौषट्" इस स्वाहा वचनात्मक याज्या मन्त्र के उच्चारण करने पर उस के 'वौषट्' उच्चारण के साथ आहवनीयाग्नि के समिद्ध प्रदेश में आज्या हुति के द्वारा क्रमप्राप्त पाँचवें) स्वाहा-स्वाहा (नामक प्रयाज) का यजन करता है। (वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा-शरत्-हेमन्त, इन) पाँच ऋतुओं का निरन्वयेन हेमन्त स्वाहा कार (अन्तिमपर्व) है। (अपने स्वाभाविक कटु स्पर्श से) हेमन्त ही इस (पार्थिव प्रजावर्ग को अपने वश में कर लेता है। इसीलिए ही (हेमन्ताक्रमण से स्वविकाम लक्षण स्वातन्त्र्य खोने से ही) हेमन्त ऋतु में ओषधियाँ म्लान (मुकुलित) होजाती हैं, वनस्पतियों के पत्ते झड़ जाते हैं, पक्षिगण अविरामरूपेण क्षीणकाय बन जाते हैं, (क्षीणकाय बनते हुए निर्जीव से बनकर आकाश से, तथा अपने घोंसलों से) ये (पक्षी) पट-पट नीचे गिरने लगते हैं, पुरुष समुदाय मुण्डितकेशपुरुष की भांति हतश्री बन जाता है—(प्रतीत होने लगता है)। इस प्रकार (इन प्रत्यक्षदृष्ट स्थितियों के आधार पर यह कहा जासकता है कि) हेमन्त सम्पूर्ण पार्थिव प्रजावर्ग को अपने अधिकार में कर लेता है (किए हुए है)। (जिसप्रकार एक समर्थ-बलवान्-पौरुष व्यक्ति अपने बल पर अधिकार करता हुआ बल के द्वारा श्री-वित्तसम्पत्ति, एवं अन्नाद्य-अन्नसम्पत्ति का अन्यतम भोक्ता बन जाता है, एवमेव हेमन्त यागकर्त्ता भी अपने समाज का नेता बनता हुआ श्री-और अन्नाद्य का अन्यतम भोक्ता बन जाता है। हेमन्तयाग के इसी फल का अपने शब्दों में अभिनय करती हुई श्रुति कहती है)—वह यजमान जिस कर्त्ता (समाज) में रहता है, उस कर्त्ता को भी, और अन्नाद्य के लिए स्वीकृत कर लेता है (उस समाज को अपने वश में कर तद्द्वारा अभीष्ट श्री-अन्नाद्य प्राप्त करने में समर्थ होजाता है) जोकि यजमान (साथ ही यजमानदत्त दक्षिणा से परिगृहीत प्रयाजकर्त्ता अध्वर्यु भी) हेमन्त के

(अपगतएण) सर्वाभिपत्य को जान सता है। (तमन्तयाग का आध्यात्मिक फल सर्वाभिकारमाव प्राप्ति है यही तात्पर्य है)॥४॥

इति प्रयाजाहुत् (पद्धति)- ४)

५— प्रयाजानुमन्त्रण

प्रकृत प्रयाज कर्म्म में एक 'प्रयाजानुमन्त्रण' नामक कर्म्म-विशेष यजमान को करना पड़ता है। पांच प्रयाजों के लिए होतृकर्तृक पांच याज्या मन्त्र हैं, जिन का पूर्व के प्रयाजाहुत् प्रकरण में स्पष्टीकरण किया जा चुका है। पांच याज्यामन्त्र 'प्रयाजमन्त्र' हैं। जिस समय १-२-३ ४-५-क्रम से होता पांच याज्या मन्त्रों का उच्चारण करता है, उस समय प्रत्येक याज्यामन्त्र की समाप्ति पर यजमान भी एक एक निगदमन्त्र का उच्चारण करता है। यजमान इस मन्त्रपाठ से प्रयाज का अपने देवात्मा के साथ सम्बन्ध कराता है। अतएव यजमानकर्तृक ये मन्त्र 'प्रयाजानुमन्त्रण' कहलाए हैं। उन पांचों प्रयाजानुमन्त्रण-मन्त्रों का स्वरूप निम्न लिखित है—

(१)—होता—"समिधो अग्न आज्यस्य व्यन्तु वौषट्" —यजमान—"इदं समिद्वतो म मम। एको मम, एका तस्य यमहं द्वेष्मि यो‌ऽस्मान् द्वेष्टि यंच वयं द्विष्म। विधिमान् भूयासम्" (समिदनुमन्त्रणम्—१)।

(२)—होता—"तनूनपादग्न आज्यस्य वेतु वौषट्" —यजमान—"इदं तनूनपाते, म मम। द्वौ मम द्वे तस्य ये च वयं। अमर्त्यगोप्ताम् भूयासम्" (तनूनपादनुमन्त्रणम्—२)।

(३)—होता—"इडोऽग्न आज्यस्य व्यन्तु वौषट्" —यजमान—"इदमिड्भ्यो, म मम। त्रयो मम तिस्रस्तस्य—यं च वयं। पशवी भूयासम्" (इडनुमन्त्रणम्—३)।

(४)—होता—"बर्हिरग्न आज्यस्य वेतु वौषट्"—यजमान—"इदं बर्हिषे म मम। चत्वारो मम चतस्रस्तस्य—यं च वयं। प्रजावती भूयासम्" (बर्हिरनुमन्त्रणम्—४)।

(५)—होता—"स्वाहाग्निं, स्वाहा सोमं, स्वा ग्यन्तु वौषट्"—यजमान—"इदमग्नये, सोमाय, अग्नये०, न मम। पशु मम, न तस्य किञ्चन—यं च वयं०। अग्नादो भूयासम्" (स्वाहा मन्त्रणम्—५)।

अबतक के ब्राह्मणभाग में होतृकर्तृक प्रयाजमन्त्रों का, एवं अध्वर्युकर्तृक आहुति-कर्म्म से सम्बन्ध रखने वाली अन्यान्य विशेषताओं का पद्धति-प्रदर्शन पुरस्सर निरूपण हो चुका है। परन्तु अबतक यजमानकर्तृक—'प्रयाजानुमन्त्रण' मन्त्रों की उपपत्ति नहीं बतलाई गई है। प्रकृत शेष ब्राह्मण भाग में उस प्रयाजानुमन्त्रण की ही पद्धतिप्रदर्शन-पूर्वक उपपत्ति बतलाई जारही है। इस उपपत्ति से सम्बन्ध रखने वाला एक आख्यान सर्वप्रथम उद्धृत करती हुई श्रुति कहती है—

देवदेवता, और असुर, दोनों प्राजापत्य (प्रजापति की सन्तानें) परस्पर स्पर्द्धा (युद्ध) करने लगे। (दोनों ही) दण्ड, तथा धनुषों से (एक दूसरे पर) विजय प्राप्त न कर सके (भौतिक शस्त्रबल से युद्ध का निश्चित परिणाम न निकल सका)। (अपने आयुधयुक्त युद्धकर्म्म से) विजय लाभ न करते हुए दोनों ने यह निश्चय किया कि, अरे भाई (हन्त ! भला, अच्छा तो) अपने वाग्रूप ब्रह्म के माध्यम से ही जीतने की इच्छा करें (शास्त्रार्थद्वारा युद्ध का निर्णय करें)। (इस वाग्सिका वाक् के युद्ध में, वाचिक युद्ध में) अपने दोनों में से जो भी—(एक दूसरे द्वारा) प्रयुक्त वाक् का मिथुनभाव से अनुक्रमण द्वारा (युग्म द्वारा) अनुगत न करेगा वह हार जायगा, दूसरा (मिथुनभावानुगत दल) विजेता माना जायगा। दोनों ने संधा (शर्त्त) मान ली (तथेति)। (प्रस्तुत वाग्युद्ध में इन्द्र को ही योग्य अधिकारी मान कर) देवरेवताओं ने इन्द्र से कहा कि, (हमा ! ओर से देवमण्डली की ओर से) आप ही वाक्-शस्त्र का प्रयोग करें ! ॥६॥

(देवम रयानुमत) इन्द्र (ही वाग् युद्ध का प्रारम्भ करते हुए असुरों का लक्ष्य बना कर) बोले—'एको मम (हमारा एक है)। अस्माकमेका (हमारी एक है) यह (प्रत्युत्तर में) असुर बोले। इस प्रथम (वाङ्मय) स्पर्द्धा कर्म्म से (प्रतिज्ञात सन्धानुसार) देवदेवता असुर, दोनों में मिथुन सम्पत्ति प्राप्त कर ली। यह मिथुन ही तो है, जो 'एकः' और 'एका' है। (योषा-वृषात्मक स्त्री-पुम्भाव का समन्वित रूप ही मिथुनभाव है। पुम्बाचक 'एकः' से वृषात्मक पुम्भाव का, एवं स्त्रीवाचक 'एका' से योषात्मक स्त्रीभाव का संग्रह हो रहा है। दोनों के योग से मिथुनभाव स्वतः बन रहा है, यही तात्पर्य्य है)॥७॥

(प्रथम मिथुनावाप्त्यनन्तर) 'द्वौ मम' यह इन्द्र बोले, एवं प्रत्युत्तर में 'अस्माकं द्वे' यह असुर बोले। इस कर्म्म से (भी दोनों नें) मिथुनसम्पत्ति प्राप्त कर ली। यह मिथुन ही तो है, जो 'द्वौ' (पुम्वाचक शब्द), 'द्वे' (स्त्रीवाचक शब्द) है ॥८॥

द्वितीय मिथुनावाप्त्यनन्तर) 'त्रयो मम' यह इन्द्र बोले, एवं प्रत्युत्तर में 'अस्माकं तिस्रः' यह असुर बोले। इस कर्म्म से (भी दोनों नें) मिथुन सम्पत्ति प्राप्त कर ली। यह मिथुन ही तो है, जो कि त्रयः, और तिस्र' है ॥९॥

(तृतीय मिथुनावाप्त्यनन्तर) 'चत्वारो मम' यह इन्द्र बोले, एवं प्रत्युत्तर में 'अस्माकं चतस्रः' यह असुर बोले। इस कर्म्म से (भी दोनों नें) मिथुनसम्पत्ति प्राप्त कर ली। यह मिथुन ही तो है, जो कि-चत्वारः, और चतस्र' है ॥१०॥

(चतुर्थ मिथुनावाप्त्यनन्तर) पञ्च मम' यह इन्द्र बोले। (इन्द्र के इस वाक्यस्थ 'पञ्च' पद के प्रत्युत्तर के लिए) असुर कोई साधन प्राप्त न कर सके। (क्योंकि 'चत्वारः-चतस्र' से आगे-स्त्री-पुल्लिङ्ग भेदक लिङ्ग का ही अभाव है। अतएव) इस से आगे मिथुन का अभाव है। आगे तो- स्त्री-पुम्भाव दोनों के लिए) 'पञ्च-पञ्च' इस समान शब्द का ही प्रयोग होता है। (बस यहां आकर पूर्व प्रतिज्ञात संधा के अनुसार इन्द्रप्रयुक्त 'पञ्च' के मिथुन की पूर्ति करने में असमर्थ रहते हुए) असुर अपना सर्वस्व (पहिले के चार मिथुन भाव भी) हार गए। उधर देवदेवताओं नें (मिथुन प्रयाजानुगमन से) असुरों का भी सर्वस्व जीत लिया सम्पूर्ण मिथुनों से (तद्रूप प्रयाजकर्म्मों से) सपत्न असुरों को भागरहित बना दिया ॥११॥

(क्योंकि *प्राकृतिक प्राणयज्ञ में देवासुर-स्पर्धा में मिथुनभाव के द्वारा देव* देवता असुरों के पराभव में समर्थ हुए हैं, अतएव इस पञ्चप्रयाज कर्म्म में भी प्रयाजानु-*मन्त्रण-मन्त्रों में क्रमशः 'एक-एका' इत्यादि मिथुन-भावात्मक पदों का समावेश* कराता हुआ मिथुनसम्पत्ति-यानुप्राप्तिका पाठ यज्ञ सम्पत्ति-पर अपना अनन्य अधिकार जमा लेता है। यही अनुमन्त्रण-मन्त्रों की, एवं तत पठित 'एक-एका' आदि मिथुनभावों की मौलिक उपपत्ति है, जिसका वैज्ञानिक विश्लेषण तत्प्रकरणानुगत विवेचना प्रकरण में किया जायगा। प्राकृतिक मिथुनभाव के आधार पर प्रतिष्ठित इसी प्रयाजानुमन्त्रण कर्म्म की इतिकर्त्तव्यता बतलाती हुई श्रुति कहती है)—

इसलिए (पूर्वोक्त मिथुनभावाप्ति के लिए) उस यजमान को प्रथम प्रयाजाय समाप्त होने पर वह (प्रयाजानुमन्त्रणमन्त्र) बोलना चाहिए कि-'एको ममैस्येका तस्य, यमहं द्वेष्मि' (एक मेरा है, एक उनकी है, जिससे मैं द्वेष करता हूँ ●। यदि यजमान किसी को अपना व्यक्तिगत शत्रु नहीं मानता है, व्यक्तिगत द्वेष नहीं करता है, तो उस अवस्था में ('यमहं द्वेष्मि' न बोल कर)—'योऽस्मान द्वेष्टि, यं च वयं द्विष्म' (जो हम से द्वेष रखता है, जिसके प्रति हम सहज वैर रखते हैं) यह बोलना चाहिए (इस १२ वीं कण्डिकाके अनुवाद से ही १३, १४, १५, कण्डिकाओं का, एवं सोलहवीं कण्डिका के पूर्वसमतुलित भाग का अनुवाद गतार्थ बन रहा है ॥ १३, १४, १५, ॥

वह यजमानशत्रु (पाँचवें प्रयाज में यजमान के द्वारा प्रयुक्त—'पञ्च मम-न तस्य किञ्चन, योऽस्मान् द्वेष्टि, यं च वयं द्विष्म' इस प्रयाजानुमन्त्रण-मन्त्र के द्वारा) क्षण पञ्च-पञ्च करता हुआ ही रह जाता है उस मिथुनसम्पत्ति उपलब्ध ही नहीं होती) । परिणाम स्वरूप वह यजमान अपने शत्रुवर्ग का सब कुछ छीन लेता है, सर्वसम्पत्ति से सपत्नों को भागरहित (वञ्चित) कर देता है, जो यजमान प्रयाजानुमन्त्रण से सम्बन्ध रखने वाले मिथुन विज्ञान को जानता हुआ तत्प्रयोग करता है ॥१६॥

इति–प्रयाजानुमन्त्रण (५)



पाँचवें अध्याय में चौथा, चौथे प्रपाठक में पाँचवां ब्राह्मण समाप्त

(१।५।४)—(१।४।५)

(२—त्रिब्राह्मणात्मक प्रयाजब्राह्मण में क्रम प्राप्त द्वितीय ब्राह्मण समाप्त

(पाँचवाँ अध्याय समाप्त)



● जिन के साथ द्वेष हो उन का– कामदत्तं–कौवदत्तं–कौमदत्त् कोषे्दत्तप्रभृति हुआ करता है उन नाम के नाम का सन्निवेश कर देना चाहिए

(छठा अध्याय प्रारम्भ)

प्रथमकाण्ड में छठे अध्याय में पहिला, चौथे प्रपाठक में छठा ब्राह्मण

(१।६।१)—(१।४।६)

(३—त्रिब्राह्मणात्मक प्रयाजब्राह्मण में क्रमप्राप्त तृतीय ब्राह्मण)

६-प्रयाजों का इष्टि में प्राथम्य

त्रिब्राह्मणात्मक प्रयाजब्राह्मण के पूर्वोपात्त प्रथम ब्राह्मण में (१।५।३) के 'ऋतवो ह वै प्रयाजाः' इत्यादिरूप पञ्च-पञ्चकण्डिकात्मक भाग के द्वारा वस्तु' (प्रयाजकर्म्मोपपत्ति) का प्रतिपादन हुआ है। वहां यह स्पष्ट किया ग यह पञ्च-प्रयाजयाग सम्वत्सर में भुक्त वसन्तादि पांच ऋतुओं पर यजमाना अधिकार प्रतिष्ठित करने के लिए ही किया जाता है। वहीं यह भी स्पष्ट कि है कि, देवता और असुरों की पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा में देवताओं ने अपने वि साधन पांच प्रयाजों को ही बनाया। इन पांच प्रयाजों से (पञ्चप्रयाजयाग) पञ्चऋतु की समष्टिरूप सम्वत्सर सम्पत् पर अपना अधिकार करने में समर्थ होग उक्त उपपत्ति से यह निष्कर्ष निकलता है कि, प्रयाजकर्म्म वस्तुतः ऋतुकर्म्म है ऋतुओं का यजन ही प्रयाजयजन है। अब इस सम्बन्ध में यह जिज्ञासा होती सम्वत्सरयज्ञ में,—जिस में साम्वत्सरिक प्राणविध देवदेवताओं के भाग निमर ऋतुओं का (ऋतुदेवताओं का) क्या भाग है ?। दूसरी जिज्ञासा का अ सम्बन्ध है। समिद्ध आहवनीयाग्नि में इन ऋतुरूप प्रयाज-देवताओं के लिए आहुति विहित है। यह समिद्ध अग्नि साम्वत्सरिक विश्वाग्नि का प्रतिरूप है। एव सिद्ध होजाता है कि, प्राकृतिक पञ्चऋतुओं का भी (अन्य देवदेवताओं की म अग्निदेव के साथ अवश्य ही कोइ न कोई घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह अग्निसम्बन्ध प्रकृत में जिज्ञास्य बन रहा है। इस अग्निसम्बन्ध-जिज्ञासा का यों भी अभि किया जासकता है कि, ऋतुरूप पञ्चप्रयाजों के लिए होता की ओर से जो पांच याज्यामन्त्र प्रयुक्त होते हैं, उन पांचों ही मन्त्रों में 'समिधो अग्न आज्यस्य व्यन्तु०' 'तनूनपादग्न आज्यस्य वेतु०' इत्यादिरूप से 'अग्नि' का समावेश है। जबकि पां मन्त्रों से सम्बन्ध रखने वाली पांचों प्रयाजाहुतियाँ क्रमशः समित्, तनूनपात्, इ बर्हि, स्वाहा, इन पांच प्रयाज-ऋतु-देवताओं के लिए ही विहित है, तो तद्देवता याज्यामन्त्रों में 'अग्नि' पद का समावेश क्यों हुआ ?, क्यों-प्रयाजयागात्मक या म अग्नि को भी भागहर माना गया ? तीसरी जिज्ञासा का प्रयाज-प्राथम्य से सम

न्न है। प्रधानदेवतायाग ही 'इष्टिकर्म्म' है। इस इष्टिकर्म्म में ऋतुओं की तृप्ति के लिए तो प्रयाज कर्म्म विहित है, एवं छन्दों की तृप्ति के लिए अनुयाज कर्म्म विहित है। इन दोनों में प्रयाज कर्म्म प्रधानदेवता-यागलक्षण इष्टिकर्म्म से पहिले होता है, अनुयाजकर्म्म इष्टिकर्म्म से पीछे। यह जिज्ञासा भी स्वाभाविक है कि, प्रयाज कर्म्म का इष्टिकर्म्म में प्राथम्य क्यों है ? । इन तीनों जिज्ञासाओं का प्राकृतिक आधिदैविक अनुबन्ध से ही सम्बन्ध है, वहिज्ञान ही इस जिज्ञासात्रयी का तात्त्विक समाधान है। प्रस्तुत-ब्राह्मण की प्रथम कण्डिका से आरम्भ कर १२ वीं कण्डिका पर्य्यन्त इसी जिज्ञासा-त्रयी का सोपपत्तिक विश्लेषण हुआ है। अतएव पञ्चदशकण्डिकात्मक इस ब्राह्मण भाग का एक स्वतन्त्र प्रकरण माना जासकता है, जिस इसमें— 'प्रयाजों का इष्टि में प्राथम्य' नामकरण अन्वर्थ माना है। १ वीं कण्डिका से आरम्भ कर १८ वीं कण्डिका पर्य्यन्त तीन कण्डिकाओं में 'अभिचार' कर्म्म का निरूपण हुआ है, यही प्रकृत ब्राह्मण का कण्डिकात्रयात्मक द्वितीय करण है। १६ वीं कण्डिका में फलश्रुति का विश्लेषण हुआ है, यही एक कण्डिकात्मक तृतीय प्रकरण माना गया है। १६, २०, इन दो कण्डिकाओं में प्रयाज कर्म्म से सम्बन्ध रखने वाले परिशिष्ट आम्न-देवतादि प्रश्नों का विमर्श हुआ है, यही प्रस्तुत ब्राह्मण का— 'परिशिष्ट प्रश्नोत्तर विमर्श' नामक अन्तिम प्रकरण है। सम्पूर्ण २१ कण्डिकात्मक प्रकृत तृतीय प्रयाजब्राह्मण में ४ अवान्तर प्रकरण हो जाते हैं, जिन्हें पूर्वब्राह्मण-त्रयी में प्रतिपादित ५ प्रकरणों की क्रमिक संख्या के अनुरोध से क्रमशः ६ ७ ८ ९, प्रकरण माना जासकता है। इस प्रकरण सङ्गति को लक्ष्य बना कर ही प्रकृत भाष्यानुवाद का समन्वय करना चाहिए—(सैषा प्रकरणम् ति)।

(प्रयाजयाग ऋतुयाग है, इस का प्राकृतिक सम्वत्सराग्नियज्ञ में एक विशेष-प्रथम-स्थान है, इसी आधिदैविक तत्त्व का एक वैज्ञानिक आख्यान के द्वारा विश्लेषण करती हुई श्रुति कहती है)—(वसन्तादि पाँचों प्राकृतिक) ऋतुओं ने (प्राणमय) देवताओं के साथ यज्ञ (सम्वत्सराग्निलक्षण सोमगर्भित ज्योतिर्मय यज्ञ) में (अपना भी) भाग चाहा (अर्थात्-जिस प्रकार देवदेवताओं का यज्ञाग्नि में भाग है एवमेव ऋतुओंने भी उस के भागीदार बनने की देवदेवताओं से कामना प्रकट की। अपनी इसी कामना को प्रकट करते हुए ऋतुओंने इन्द्रदेवताओं से अनुरोध किया कि) आप लोग इस यज्ञ में हमें भी भागी (हिस्सेदार) बनाइए — हमें इस यज्ञ (भाग) से वञ्चित न कीजिए !, (हम चाहते हैं कि, आप लोगों की भाँति) इस यज्ञ में हमारा भी भाग रहे ॥१॥

(जिस प्रकार किसी आगन्तुक सम्पत्ति-भोक्ता, सम्पत्तिभाग-कामुक के आने से, उस के विभाग मांगने पर स्वाभाविक वित्तलोभ के आकर्षण से तो सम्पत्ति का प्रथमभोक्ता आगन्तुक की उस न्याय प्राप्त मांग की उपेक्षा कर देव सुनी अनसुनी कर देता है, ठीक इसी लौकिक चित्त स्थिति के अनुसार ऋतुओं के यज्ञभाग मांगने पर) देवताओं नें ऋतुओं की उस (न्यायप्राप्त भाग कामना को पहिचाना—सुनकर भी ऐसी उपेक्षावृत्ति दिखलाई, जैसे उन्होंने कुछ सुना-जान न हो) । (देवदेवताओं की उपेक्षावृत्ति का, ऋतुओं की न्यायप्राप्त मांग ठुकरा का यही परिणाम हुआ, जो आज भी प्रत्यक्ष में देखा सुना जाता है । यदि किसी को अपना न्यायप्राप्त अधिकार मांगने से भी नहीं मिलता, जो वस्तुतः बिना भी मिल जाना चाहिए, तो उस अवस्था में मांगने वाले का आत्मा विद्रोही ब उस वित्तभोगी-भागभोगी के प्रतिद्वन्द्वी-शत्रुदल में जा मिलता है । यही ऋतु किया । इसी प्राकृतिक धर्म्म का विश्लेषण करती हुई श्रुति कहती है) आए देवदेवताओं के इस प्रकार (अपनी मांग के) न जानने पर (उपेक्षा करने पर ऋतुएँ (उत्पन्न स्वाभाविक आत्मविद्रोह के कारण) देवदेवताओं के सह भावरूप असुरों की ओर लौट आईं असुरदल में समाविष्ट हो गईं) ॥२॥

(अपने शत्रु की समृद्धि सुन सुन कर विपक्षीदल को अन्तर्वेदना का स्व विक अनुभव हुआ करता है । यदि किसी से बदला लेना हो, तो उसे चाहिए वह उस के शत्रुदल में मिल जाय । और उस से मिलकर उस के उस समृद्धिक अपना सहयोग देकर उस समृद्धि को और भी अधिक समृद्ध बनाए, जिस स को सुनने मात्र से विपक्षीदल की वेदना द्विगुणित हो जाती है । ऋतुओंने इसी प आश्रय लिया । असुरमण्डल की ओर आगत) ऋतुओंनें (असुरों के लिए) समृद्धि को (और भी अधिक) समृद्ध करना आरम्भ किया, जिस (असुरसम को देवता सुना करते हैं (सुन सुन कर व्यथित हुआ करते हैं) । (ऋतुओं के । असुरों की पूर्वसमृद्धि में क्या विशेषता उत्पन्न होगई ?, प्रश्न का समाधान क हुई श्रुति कहती है कि)—जिस पुरायुग में इन असुरों के पूर्वज (ऋतुओं के । कूल सहयोग न मिलने से) जिस समय (मोसम में) हल जोतते थे, (हल जोत बीज डालते थे (इस प्रकार हल जोतकर बीज डाल कर बड़े परिश्रम से थोड़ा । अन्न उत्पन्न कर येनकेनरूपेण बड़े कष्ट से अपना निर्वाह करते थे उन्हीं असुरों वंशज (आपरे)—(इन ऋतुओं के अनुग्रह से आज उसी मोसम में) कुछ धान काट रहे हैं कुछ कटे हुए धानों को बैल आदि से मुँदवा रहे हैं । इस प्र

(ऋतुओं के अनुग्रह से आज) उन–असुर प्रदेशों में विना ही हल जोते पुनः पुनः ओषधियें पक रहीं हैं। (तात्पर्य्य, ऋतु–अनुग्रह से पहिले जिन इन असुरों के पूर्वजों को जिस मौसम में हल जोत कर बड़े कष्ट से अन्न उत्पन्न करना पड़ता था, आज उन के वंशज असुर ऋतुओं के अनुग्रह से उस मौसम में तो धान का संग्रह कर लेते हैं। साथ ही इन्हें हल जोतने का भी कष्ट नहीं उठाना पड़ता। ऋतु–अनुग्रह से विना हल जोते ही इन के देश में पर्य्याप्त अन्नसम्पत्ति उत्पन्न होती रहती है। यही वह प्रभूत समृद्धि है, जिसे सुन सुन कर देवता व्यथित हो सकते हैं) ॥३॥

(देवदेवताओं के समीप भी कर्णाकर्णी ये समाचार पहुँचे। वही हुआ, जो होना चाहिए थे।) असुरसमृद्धि सुन कर देवदेवताओं को बड़ा पश्चात्ताप (आग) हुआ। (इन्होंने अपने प्रज्ञापराध–जनित इस पश्चात्ताप को इन शब्दों में प्रकट किया कि)—हमारे इस (ऋतुओं को उनके न्यायप्राप्त भाग न देने के) कारण (ही) आज शत्रुदल–(असुरलोग) अपने शत्रुदल (देवदल) के प्रति (स्पर्द्धापूर्वक) शत्रुता करना चाहता है (अर्थात् हम से उपेक्षित ऋतुओं के बल से ही समृद्ध बन कर आज ये असुर यहां तक समर्थ होगए हैं कि, वे–सुप्रम मुझा हम से युद्ध करने के लिए सन्नद्ध हैं। आज असुरों का यह साहस होगया है कि, वे–प्रत्यक्ष में हम से शत्रुता रखते हुए भी नहीं डर रहे। वास्तव में) ऐसा होजाना बहुत ही कमी है—(कनीय इन्दु–सज्ञा की बात है)। (ऋतुओं के अनुग्रह में आज असुर बलवान बन गए हैं। अतएव प्रत्यक्ष में इन से मुठभेड़ करना तो और भी पश्चात्ताप का कारण होगा। अतएव अब तो) आप सब (मिलकर) वैसा कोई (अमप्रत्यक्ष महत्व) उपाय निकालिए जिस से असुर लोग अपनी इस (वर्त्तमान समृद्ध स्थिति से विपरीत (असमृद्ध–निर्बल) अवस्था में (स्वतः एव) पहुँच जाँय ॥४॥

(सभी यह जानते थे कि, ऋतुओं को इन का न्यायप्राप्त भाग न मिलने से ये असुरों में जा मिलीं परिणामस्वरूप असुर समृद्ध होगए। अब इन्हें अपरपक्ष रूप से निर्बल बनाने का भी यही उपाय होसकता है कि, जैसे बने तैसे ऋतुओं को वापस लौटा ली जाँय। परामर्शद्वारा यह निश्चय कर) देवदेवता (अपना मन्तव्य प्रकट करते हुए) कहने लगे कि, अपने (इस संकट में बचने के लिए असुरदल में पहुँच जाने वालीं) ऋतुओं को ही निमन्त्रित करें (आदरपूर्वक ऋतुओं को ही वापस बुलाना चाहिए। उपाय निकल आया परन्तु) किस साधन से (किस प्रलोभन से वह बुलाया जाए? यह समस्या आपड़ी। समस्या का कारण यही था कि, ऋतुएं देवताओं से तिरस्कृत होकर होगई थीं। वह अपने प्रिय यज्ञ में भाग

नहीं मिला था। आज भी वे लौट सकती हैं। परन्तु प्रलोभन ऐसा होना चाहिए, जो पूर्वप्रलोभन से भी विशिष्ट हो। वह यही होसकता है कि, जिस यज्ञ भाग की उन्हें कामना थी, स्वाभाविक प्रलोभन था, उस का प्रथम भागहर ऋतुओं का ही बनाया जाय। अवश्यमेव इस विशिष्ट प्रलोभनाकर्षण से वे वापस लौट आएंगी। इसी तात्पर्यार्थ का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है कि)—आप इन ऋतुओं का इस यज्ञ में सबप्रथम ही यजन करें (अर्थात् पहिला भाग इन्हें ही दिया जाय— आप को प्रथम भाग मिलेगा, यही सन्देश ऋतुओं के पास भेजा जाय। विश्वास है, इस साधन से अवश्य वे हमारी ओर आजायेंगी) ॥५॥

(देवमण्डल में वे अग्निदेव भी समुपस्थित थे, जिन्हें यज्ञ में देवतालोग सब से पहिला भागहर मानते आरहे हैं। ऋतुयाग से भी पहिले अग्नि का ही प्रथम यजन होता आया है। जब अग्नि ने यह निर्णय सुना कि, ऋतुलक्षण प्रजाओं का ये लोग प्रथम यजन करने वाले हैं, तो उन्हें अपने-प्रथमाधिकार की चिन्ता हुई। इसी चिन्ता को व्यक्त करते हुए) अग्निदेव बोल पड़े कि—(हे देवदेवताओ !) आप ने जो कि पहिले (प्रजायाग से भी पहिले) मेरा यजन किया है, (पहिला भागहर बनाया है) वह मैं (यज्ञ में) कहां प्रतिष्ठित रहूँगा (अग्नि को भय यह हुआ कि, मुझे इन्होंने यज्ञ का प्रथमभाग पहिले से दे दिया है। आज ये ऋतुओं को भी प्रथम देना चाहते हैं। कहीं ऐसा न हो कि, मेरा भाग छीन कर ऋतुओं को दे दिया जाय। यदि कहीं ऐसा होगया, तो मेरी प्रतिष्ठा ही उच्छिन्न हो जावगी। देवताओं ने अग्निदेव की इस चिन्ता का हटाते हुए आश्वासन दिया कि) अग्नि-देव ! (आप चिन्ता न करें) हम आप को अपने आयतन (प्रथमभाग लक्षण प्रतिष्ठास्थान) से कभी न गिरावेंगे। (देवताओं का वह आश्वासन अवश्य ही सुरक्षित रहता है। अग्निदेव का प्रथमभाग अक्षुण्ण ही बना रहता है। इसी स्थिति का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है कि) उन देवदेवताओं ने (प्रथमभाग प्रलोभन साधन से) ऋतुओं को बुलाते हुए (भी उन्हें प्रथम भाग देते हुए भी) क्योंकि अग्निदेव को अपने उत्कृष्ट आयतन से (प्रथमभाग से) च्युत नहीं किया अतएव (तब से, इसी अच्युतभाव से) वे अग्निदेव 'अच्युत' नाम से ही प्रसिद्ध होगए (जिन के लिए उभयत्राच्युत आग्नेय पुरोडाश विहित है)। यह याज्ञिक भी अपने इस आयतन से कभी च्युत नहीं होता है, जिस आयतन में वह प्रतिष्ठित रहता है, जोकि इस अच्युत अग्नि को (अग्नि के इस अच्युत धर्म्म को) जानता है ॥६॥

(देवताओंने अग्नि का-'नत्वामायतनाच्च्यावयाम' इत्यादिरूप से वाचिक सन्तोष तो करा दिया, परन्तु इस से समस्या अधिक क्लिष्ट बन गई । 'प्रथमयजन' कर्म एकबार ही सम्भव है । ऋतुओं का प्रथमयजन कर लिया जाय, अथवा तो अग्नि का प्रथम यजन कर लिया जाय । अग्नियजन होचुका है । यदि इन्हें इसी स्थान पर प्रतिष्ठित रखना है, तब तो ऋतुओं का प्रथमयजन असम्भव हो जाता है । यदि ऋतुओं का प्रथमयजन किया जाता है, तो अग्नि के प्रथम भाग के अपहरण के अतिरिक्त अन्य उपाय का अभाव है, फलस्वरूप अग्निदेव के साथ की गई प्रतिज्ञा का निर्वाह असम्भव हो जाता है । इस अनिश्चितावस्था के निराकरण के लिए देवताओं के ध्यान में एक उपाय आया । उन्होंने यह निश्चय किया कि, प्रथमयजन का प्रलोभन प्रथम भागहर अग्नि के द्वारा ही ऋतुओं के समीप पहुँचाना चाहिए । परिणाम यह होगा कि, ऋतुदेवता अग्निदेवता को प्रथम यजन रूप प्रिय भाग का लाने वाला समझ कर इन से अवश्य ही यह कहेंगे कि, जब आप अपना प्रथम यजन उपेक्ष्य मान कर हमें प्रथम भागहर बनाने का त्याग कर रहे हैं, तो हमारा यह कर्त्तव्य हो जाता है कि, हम अपने इस प्रथमयजन से आप को पृथक न करें, अपितु आपका भी अपने प्रथम यजन कर्म्म में हीं समावेश करलें । इस प्रकार ऋतुदेवताओं का भी प्रथम यजन हो जायगा, साथ ही ऋतुयाग में समाविष्ट होने से अग्निदेव का प्रथम यजन भी सुरक्षित रह जायगा । इसी भाव का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है—)

(उक्त मन्त्रणा के द्वारा उक्त निश्चय कर) देवदेवताओंने अग्निदेव से कहा कि, (हे अग्निदेव !) जाइए (और) आप ही उन (असुरप्रविष्ट ऋतुओं का निमन्त्रित कीजिए । (प्रज्ञानुसार अपने स्वाभाविक आदानलक्षण होम-धर्म की अपेक्षा से) अग्निदेव (वहां पहुँच गये) पहुँच कर (उन ऋतुओं से) अग्नि कहने लगे कि हे ऋतुदेवताओ ! मैंने देवताओं के यज्ञ के प्रति आप का भाग जान लिया है (अर्थात् देवताओं के इस निश्चय की मैं आप को सूचना देने आया हूँ कि, वे अपने यज्ञ में आप को प्रथम भागहर बनाने के लिए सन्नद्ध हैं) । (ऋतुदेवताओं का पहिले अपमान हो चुका था । अतएव वे तबतक सन्तुष्ट नहीं होने वाले थे जब तक कि उनके सामने पहिले यज्ञभाग से बढ़ कर कोई प्रिय साधन देवताओं की ओर से इन का निश्चय नहीं हो जाय । उन्होंने सोचा कि, यदि वे केवल यज्ञभाग ही देना चाहते हैं तब तो अपमान जायेगा नहीं । हां, यदि वे प्रथम भागहर बनाना निश्चित कर चुके हैं तो अपना मान सुरक्षित रह सकता है, अतएव मानपूर्वक हो

यहां लौटना भी भेयस्कर बन सकता है। साथ ही भागविभक्ति के समय वे यह भी देख चुके थे कि, प्रथमभाग अग्निदेव को मिल चुका है। वे ही अग्निदेव अपना भाग छोड़कर उसे हमें देने आप होंगे, इस की कोई सम्भावना है नहीं। और बिना प्रथमभाग के अयन लौटेंगे नहीं। इसी आशङ्का के स्पष्टीकरण के लिए अग्निदेव के द्वारा निमन्त्रित ऋतुदेवता अग्निदेव से पूछने लगे कि, हे अग्निदेव ! देवताओं के यह क प्रति) आपने कैसे (हमारा भाग) काम किया (अर्थात् देवताओंने हमें पहिले क समान केवल भागहर बनाना ही निश्चित किया है, अथवा व हमें प्रथ-मभागहर बनाने के लिए सन्नद्ध हैं ? । ऋतुदेवताओं की इच्छानुसार देवसंकल्प का स्पष्टीकरण करते हुए अग्निदेव कहने लगे कि, ह ऋतुदेवताओ ! यवदेवता आपने) यज्ञ में आप का सर्वप्रथम ही यजन करेंगे (आप को प्रथमभागहर बनाने का ही देवताओं ने निश्चय किया है) ॥७॥

(जब अग्निदेव के द्वारा ऋतुदेवताओं को यह विदित होगया कि, अपने को देवदेवता उस प्रथमभाग का अधिकारी बनाना चाहते हैं, जो यज्ञकर्म्म में केवल उभयत्राप्युत प्रयासमूल अग्निदेव के लिए ही विहित है, और वही प्रथमभागहर अग्निदेव-यह जानते हुए भी कि, जो प्रथम भाग मेरा प्रातिस्विक धन है, उसे केवल-परलोपकार के लिए मुझे ऋतुदेवताओं को बिना किसी संकोच के सौंप देना चाहिए ता-उन ऋतुदेवताओं का हृदय अग्निदेव के इस अपूर्वत्याग के प्रति कृतज्ञता स आप्लावित होगया। प्रत्युपकार की भावना स इन्होंने भी यह निश्चय कर लिया कि, जिसने अपने लिए अपना स्वत्व छोड़ दिया, उसे कभी अप्रम पृथक् न करेंगे। फलत अपने नियत, पूर्वभाग प्रथम भाग स युक्त रहते हुए अग्निदेव प्रसन्न हो जायेंगे, प्रत्युपकार भी हो जायगा, साथ ही जिन देवताओंने संकटापन्न स्थिति जानते हुए भी प्रथमभाग अपने लिए नियत कर दिया, उन की अग्निदेव क प्रति की गई-'म त्वा मायतनाच्च्यावयाम' इस प्रतिज्ञा की भी रक्षा हो जायगी। यह निश्चय कर ऋतुओंने अपने प्रथम भाग में अग्निदेव का भी समावेश कर लिया। इसी स्थिति का, ऋतुओं क साथ अग्नि का घनिष्ठ सम्बन्ध है इस स्थिति का उपपादन करती हुई श्रुति कहती है)—

(निमन्त्रण देने वाले, प्रथम भागहर, अग्निदेव क उक्त त्याग से प्रभावित होकर, प्रत्युपकार में अग्निदेव क प्रातिस्विक प्रथम-भागाधिकार को सुरक्षित रखने की कामना स) उन ऋतुओंने अग्निदेव से कहा कि, (ह अग्निदेव ! आप के इस प्रकार क यत्न) हम आपको हमारे में (हमारे प्रथमभाग में) भागहर बनाते हैं

यो कि आपने देवताओं के यज्ञ के प्रति हमारे लिए (अपना अधिकार छोड़ते हुए) भाग (प्रथमभाग) जाना (अपने प्रथम भाग को हमारे लिए स्वीकार कर अपनी उदारता का, त्याग का परिचय दिया)। (क्योंकि देवदेवताओं के सम्वत्सरयज्ञ में प्रथमभाग लेने वाले असुरदेवताओं की ओर से अग्निदेव भी समाविष्ट हुए थे अतएव सभी से) ये अग्निदेव (दिव्यप्राणाग्नि) असुरों में समाविष्ट हैं (असुरों से अग्निप्राण का समन्वय प्राकृतिक है, इसी सहज सम्बन्ध को लक्ष्य में रखकर प्रयाजदेवताक आहुति कर्म्म में प्रत्येक प्रयाजभाग के साथ अग्नि का भी यजन होता है। अतएव प्रयाजदेवताक याज्या मन्त्रों में)—'समिधोऽग्ने तनूनपादग्न, इडोऽग्ने बर्हिरग्ने, स्वाहाग्निम्' (इत्यादि रूप से अग्निपद का समावेश हुआ है)। वह (यज्ञादिशयमलत फलभोक्ता यजमान प्रयाजकर्म्मोंविकर्त्तव्यतापूरक आरम्भक) उस पुण्यकर्म्म में निश्चयेन भागहर बन जाता है, जिस पुण्यकर्म्म में वह (पुण्यकर्म्म सूचक के प्रति, प्रवर्त्तक के प्रति संचालक के प्रति) समान करता हुआ (उसे भी संयुक्त करता हुआ) उस पुण्यकर्म्मानुष्ठान करता है। (प्रयाजकर्म्मानुगत अग्निसमावेश से) अग्निप्राणयुक्त बने हुए उस (पुण्यकर्म्मा) के लिए अग्निप्राणयुक्ता (ही अतएव समृद्ध हीं) असुर बन सम्पूर्ण ओषधियों का परिपाक करती हैं, जो कि (उक्त विज्ञान परिचय के आधार पर) असुरों में अग्नि को समाविष्ट जानता है॥८॥

* * * * *

(पूर्वप्रकरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि, प्रयाजदेवताओं का यजन पहिले होता है। इस निष्कर्ष के सम्बन्ध में—एक पूर्वपक्ष उपस्थित किया जासकता है। पूर्व के होतृप्रकरण ब्राह्मण में (१।४।२) परणार्थक मन्त्रों की व्याख्या करते हुए श्रुति ने देवाह्वानकर्म्म का अभिप्रेत विश्लेषण किया है। वहाँ आह्वान का जो क्रम बतलाया गया है उस में प्रयाजदेवताओं का अन्तिम स्थान पड़ता है, जैसा कि निम्न लिखित वचन से स्पष्ट है—

"आवह देवान् यजमानायेति, तदग्नं यजाय देवानावहेत्याह। अग्निमावहेति तदग्नेयमाज्यभागमावहेत्याह। सोममावहेति तत्सौम्यमाज्यभागमावहेत्याह। अग्निमावहेति, यदग्नये उपांशुयाज्यमावहेत्याह। अग्निमावहेति, यदग्नयऽउपयाज्याभिपुतमात्र य पुरोडाशो भवति तस्मादग्निमावहेत्याह।

यहां लौटना भी श्रेयस्कर बन सकता है। साथ ही भागविभक्ति के समय वे यह भी देख चुके थे कि, प्रथमभाग अग्निदेव को मिल चुका है। वे ही अग्निदेव अपना भाग छोड़कर उसे हमें दान आए होंगे, इस की कोई सम्भावना है नहीं। और बिना प्रथमभाग के अपन लौटेंगे नहीं। इसी आशङ्का के स्पष्टीकरण के लिए अग्निदेव के द्वारा निमन्त्रित ऋतुदेवता अग्निदेव से पूछने लगे कि, हे अग्निदेव ! देवताओं के सब के प्रति) आपने कैसे (हमारा भाग) जान लिया (अर्थात् देवताओं ने हमें पहिले के समान केवल भागहर बनाना ही निश्चित किया है, अथवा वे हमें प्रथमभागहर बनाने के लिए सन्नद्ध हैं ? । ऋतुदेवताओं की इच्छानुसार देवसंकल्प का स्पष्टीकरण करते हुए अग्निदेव कहने लगे कि, हे ऋतुदेवताओ ! देवदेवता अपने) यज्ञ में आप का सर्वप्रथम ही यजन करेंगे (आप को प्रथमभागहर बनाने का ही देवताओं ने निश्चय किया है) ॥७॥

(जब अग्निदेव के द्वारा ऋतुदेवताओं को यह विदित होगया कि, अपने को देवदेवता उस प्रथमभाग का अधिकारी बनाना चाहते हैं, जो यज्ञकर्म में केवल उभयत्राच्युत प्रधानभूत अग्निदेव के लिए ही विहित है, और वही प्रथमभागहर अग्निदेव-यह जानते हुए भी कि, जो प्रथम भाग मेरा प्रातिस्विक धन है, उसे यज्ञलोकोपकार के लिए मुझे ऋतुदेवताओं को बिना किसी संकोच के सौंप देना चाहिए तो-उन ऋतुदेवताओं का हृदय अग्निदेव के इस अपूर्वत्याग के प्रति कृतज्ञता से आप्लावित होगया। प्रत्युपकार की भावना से इन्होंने भी यह निश्चय कर लिया कि, जिसने अपने लिए अपना सर्वस्व छोड़ दिया, उसे कभी अपने पृथक् न करेंगे। फलतः अपने निवास, पूर्वप्राप्त प्रथम भाग से युक्त रहते हुए अग्निदेव प्रसन्न हो जायेंगे, प्रत्युपकार भी हो जायगा साथ ही जिन देवताओं ने संकटापन्न स्थिति जानते हुए भी प्रथमभाग अपने लिए नियत कर दिया उन की अग्निदेव के प्रति की गई-'न त्वा-मायतनाच्च्यावयाम' इस प्रतिज्ञा की भी रक्षा हो जायगी। यह निश्चय कर ऋतुओं ने अपने प्रथम भाग में अग्निदेव का भी समावेश कर लिया। इसी स्थिति का, ऋतुओं के साथ अग्नि का घनिष्ठ सम्बन्ध है, इस स्थिति का उपपादन करती हुई श्रुति कहती है)—

(निमन्त्रण देने वाले प्रथम भागहर अग्निदेव के उक्त त्याग से प्रभावित होकर, प्रत्युपकार में अग्निदेव के प्रातिस्विक प्रथम-भागाधिकार को सुरक्षित रखने की कामना से) उन ऋतुओं ने अग्निदेव से कहा कि, (हे अग्निदेव ! आप के इस उपकार के बदले) हम आपको हमारे में (हमारे प्रथमभाग में) भागहर बनाते हैं,

यों कि आपने देवताओं के यज्ञ के प्रति हमारे लिए (अपना अधिकार छोड़ते हुए) भाग (प्रथमभाग) जाना (अपने प्रथम भाग को हमारे लिए स्वीकार कर अपनी उदारता का, त्याग का परिचय दिया)। (क्योंकि देवदेवताओं के सम्वत्सरयज्ञ में प्रथमभाग लेने वाले ऋतुदेवताओं की ओर से अग्निदेव भी समाविष्ट हुए थे, अत एव तभी से) ये अग्निदेव (दिव्यप्राणाग्नि) ऋतुओं में समाविष्ट हैं (ऋतुओं से अग्निप्राण का समन्वय प्राकृतिक है, इसी सहज सम्बन्ध को लक्ष्य में रखकर प्रयाज देवताक आहुति कर्म्म में प्रत्येक प्रयाजभाग के साथ अग्नि का भी यजन होता है। अतएव च प्रयाजदेवताक याज्या मन्त्रों में)—'समिधोऽग्न आज्यस्य व्यन्तु, तनूनपादग्ने, इडोऽग्न, बर्हिरग्ने, स्वाहाग्निम्' (इत्यादि रूप से अग्निपद का समावेश हुआ है)। वह (यथाविधानपूर्वक फलभोक्ता यजमान प्रयाजकर्म्मविधिकर्तव्यतापूरक स्वाहाकार) उस पुण्यकर्म्म में निरपेक्ष भागी बन जाता है, जिस पुण्यकर्म्म में वह (पुण्यकर्म्म प्रेरक के प्रति, प्रवर्तक के प्रति, संयोजक के प्रति) सम्मान करता हुआ (उसे भी संयुक्त करता हुआ) उस पुण्यकर्म्मानुष्ठान करता है। (प्रयाजकर्म्मानुगत अग्नि-समावेश से) अग्निप्राणयुक्त बने हुए उस (पुण्यकर्म्म) के लिए अग्निप्राणयुक्ता (ही अतएव समृद्ध हो) ऋतुएं इन सम्पूर्ण ओषधियों का परिपाक करती हैं, जो कि (उक्त विज्ञान परिचय के आधार पर) ऋतुओं में अग्नि का समाविष्ट जानना है।।८।।



(पूर्वप्रकरण में यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रयाजदेवताओं का यजन पहिले होता है। इस निष्कर्ष के सम्बन्ध में—एक पूर्वपक्ष उपस्थित किया जासकता है। पूर्व के होतृप्रकरण ब्राह्मण में (१।४।२) वरणार्थक मन्त्रों की व्याख्या करते हुए श्रुति ने देवाह्वानकर्म्म का क्रमिक विश्लेषण किया है। वहां आह्वान का जो क्रम बतलाया गया है, उस में प्रयाजदेवताओं का अन्तिम स्थान पड़ता है, जैसा कि निम्न लिखित वचन से स्पष्ट है—

"आवह देवान् यजमानायेति, तदग्नं यज्ञाय देवानावहेत्याह। अग्निमावहेत्याहेति तदग्नये आज्यभागायाग्निमावहेत्याह। सोममावहेति तद्सोमायाज्यभागाय सोममावहेत्याह। अग्निमावहेति तद्य एषोऽच्युत आग्नेयः पुरोडाशो भवति तस्मायाग्निमावहेत्याह।

अथ यथादेवतम् । देवाँ २॥ ऽआज्यपाँ १॥ आवहेति, तद् प्रयाजानुया-
जानसोवहाऽआह । प्रयाजानुयाजा वै देवाऽआज्यपाः”—

शत० १।४।२।१६,१७, ।

(उक्त देवता–आवाहनश्रुति से स्पष्ट है कि, आज्यपा–प्रयाज देवताओं का आवाहन सब के अन्त में विहित है। श्रौत पद्धति में यह भी नियम विहित है कि, जिस देवता का जिस क्रम से आवाहन विहित है, उसी क्रम से उस देवता का यजन विहित है। सर्वत्र देवावाहन क्रम से ही देवयाग विहित है। देखते हैं, प्रकृत प्रयाज कर्म्म में इस समान पद्धति-नियम–का इस लिए उल्लंघन हुआ है कि, प्रयाजों का आवाहन तो विहित है सब के अन्त में, किन्तु यजन हुआ है सब से पहिले। प्रयाजयाग के सम्बन्ध में यह व्यतिक्रम क्यों ?, क्यों नहीं इनका भी यजन नियमानुसार आवाहन क्रम से अन्त में ही किया जाता ?, इसी पूर्वपक्ष का अपने शब्दों में निरूपण करती हुई, आगे जाकर उत्थित पूर्वपक्ष का समाधान करती हुई श्रुति कहती है)—

प्रयाजयाग के विहित आवाहनक्रम से विपरीत होने वाले प्रथम यजन कर्म्म के सम्बन्ध में (वैज्ञानिक) कहते हैं—(यह पूर्वपक्ष उठाते हैं, विप्रतिपत्ति उपस्थित करते हैं—'तदाहु' कि) जब कि प्रयाजों को–(हविर्विभागानुसार विहित नियम के आधार पर) उत्तम रूप से (अन्त में देवरूपता) आहूत करते हैं, (आवाहन जब कि इन का सर्वान्त में होता है) तो ऐसी स्थिति में (आवाहन क्रम से विपरीत) किम् कारण (क्यों) इन का प्रथम रूप से (देवदेवता) यजन करते हैं (यजन सर्वप्रथम क्यों किया जाता है ?) । (उत्तर स्पष्ट है–अपने प्राकृतिक सम्वत्सर) यज्ञ में (प्राणविध) देवदेवताओं ने इन (प्रयाजों) को उत्तमरूप से ही (अन्तिमरूप से ही यद्यपि) स्थापित किया (था), (तथापि उसी समय उन) देवदेवताओं ने (अग्निदेवद्वारा इन के लिए यह भी निश्चय कर दिया था कि) हम तुम्हारा यजन तुम्हें प्रथम मान कर ही करेंगे। (इस विशेष विधान के आधार पर ही सामान्य विधान की उपेक्षा करते हुए देवदेवताओं में आवाहन किया इन का यद्यपि अन्त में ही, परन्तु यजन किया सर्वप्रथम। प्राकृतिक यज्ञ में प्रयाज–कल्पना अन्तिम है, यजन प्रथम है। उसी प्राकृतिक यज्ञविधा पर मनुष्य वैध मानुष यज्ञ का वितान हुआ है। अतः यहां भी उसी प्राकृतिक नियम का अनुगमन करना आवश्यक हो जाता है) अतएव (प्राकृतिक नियमानुरोधेनैव) ऋत्विक् लोग (अपने

इस इष्टिकर्म में भी इन प्रयाजों का ऋतुरूप से तो आवाहन करते हैं, एवं प्रथम-रूप से यजन करते हैं ॥५॥



(प्रयाजप्रयाग के सम्बन्ध में एक विषय और जिज्ञास्य रह जाता है। समित्, तनूनपात्, इड्, बर्हि, स्वाहा, ये पांच प्रयाजाहुतियाँ—नाम—क्रमशः वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरत्, हेमन्त इन पांच ऋतुओं से सम्बन्ध रखती हैं। संवत्सरयज्ञ की अपेक्षा वसन्तादि पांचों ऋतुओं का संवत्सराग्नि से सम्बन्ध है, जैसा कि ब्राह्मणारम्भ की ८ कण्डिकाओं से स्पष्ट कर दिया गया है। इसी आधार पर यह मान्यता अविप्रतिपन्न बन जाती है कि, ऋतुओं का यजन अग्निपूर्वक ही होता है। परन्तु—स्वाहाकाररूप पञ्चम प्रयाजयाग के सम्बन्ध में एक नवीन विप्रतिपत्ति उपस्थित होती है। आरम्भ के चार प्रयाजों में जहां ऋतुरूप प्रयाजों के साथ 'समिधो अग्न आज्यस्य व्यन्तु'—'तनूनपादग्न आज्यस्य वेतु'—'इडो अग्न आज्यस्य व्यन्तु'—'बर्हिरग्न आज्यस्य वेतु'—इस रूप से केवल अग्नि का सम्बन्ध विहित है, वैसे पांचवें हेमन्तऋतुरूप स्वाहायाग में केवल अग्नि का ही सम्बन्ध विहित नहीं है। अपितु पूर्ववत् प्रयाजचतुष्टयी की भांति अग्नि के सम्बन्ध के अतिरिक्त—इस प्रयाजयाग में—आज्यभाग, प्रधान, स्विष्टकृत्, इन तीन अग्नियागों का सम्बन्ध और किया जाता है। दूसरे शब्दों में आज्यभाग ग्राहक अग्नि, प्रधानभाग ग्राहक अग्नि, स्विष्टकृद्भागग्राहक अग्नि, इन तीन अग्नियों का आदि-मध्य-अवसान में यजन और किया जाता है। यदि—सामान्य संवत्सराग्निवत् इस विशेषाग्नित्रयी का भी ऋतुओं के साथ सम्बन्ध है, तब तो ऋतुलक्षण पांचों ही प्रयाजों में—प्रत्येक में—इन तीनों विशेषाग्नियागों का अनुष्ठान होना चाहिए। यदि ऋतुओं के साथ सम्बन्ध नहीं है, तो किसी भी प्रयाजकर्म में इन का यजन नहीं होना चाहिए। स्थिति यह है कि, आरम्भ के चार प्रयाजों में तो केवल सामान्य अग्नि का ही यजन किया जाता है। किन्तु पञ्चम प्रयाज में सामान्य अग्नियजन के अतिरिक्त विशेषाग्नित्रयी का यजन और किया जाता है, जबकि ऋतुसामान्यलक्षण पञ्चम प्रयाज में इन का यजन विप्रतिपन्न बना हुआ है। स्वाहाकाररूप हेमन्त प्रयाजयाग से सम्बन्ध रखने वाले मन्त्र में प्रयाज, तथा सामान्य अग्नि, दोनों के यजन के अतिरिक्त तीन विशेषाग्नियों के यजन का भी समावेश हुआ है। मन्त्रमात्रा निम्न लिखित है—

"स्वाहाग्निं, स्वाहा सोम स्वाहाग्निं, स्वाहा देवाँ आज्यपान्
स्वाहाग्निं होत्रा जुषाणः, अग्न आज्यस्य व्यन्तु वौषट्"
—शत० १।५।४।२ ,१३।

उक्त याज्यामन्त्र के पांच विभाग स्फुट हैं। (१) 'स्वाहाग्निं, स्वाहा सोम्' —यह एक विभाग है। इस से आग्नेय आज्यभाग, तथा सौम्य आज्यभाग, इन दो आज्यभागों का सम्बन्ध है। सोमगर्भित अग्नि ही आज्यभाग देवता है। इस का प्रथम यजन होता है। (२) 'स्वाहाग्निम'—यह द्वितीय विभाग है। उभयत्र च्युत आग्नेय पुरोडाशानुगत प्रधान देवता ही इस विभाग से गृहीत है, यही दूसरा प्रधानयाग है। (३) 'स्वाहा देवाँ आज्यपान्' यह तीसरा विभाग है। आज्यप स्वाहाकारण प्रयाज (हेमन्त) देवता के लिए ही यह तृतीय विभाग नियत है (४) 'स्वाहाग्निं होत्रा जुषाणः' यह चौथा विभाग है। स्विष्टकृदग्नि का ही इस से यजन होता है। (५) 'अग्न आज्यस्य व्यन्तु वौषट्' यह पांचवां विभाग है। पू ऋतु सामान्य सम्वत्सराग्नि का ही इस से यजन होता है। आज्यभागयागानुगत विशेष अग्नि आदि में विहित है, प्रधानयागयागानुगत विशेष अग्नि (उभयतश्च्युत अग्नि) मध्य में विहित है स्विष्टकृद्यागानुगत विशेष अग्नि अन्त में विहित है इस प्रकार स्वाहात्मक पञ्चम प्रयाजयाग के आदि–मध्य–अवसान में क्रमशः आज्य भागयाग, प्रधानयाग, स्विष्टकृद्याग ये तीन विशेषाग्नियाग पूर्वोक्त चार प्रयाजापेक्षया विशेषरूपेण विहित हैं। इस की इसी पूर्वोपात्त वैज्ञानिक व्याख्यान द्वारा अपनी मतवाली हुई श्रुति कहती है)—

(अपने प्राकृतिक इष्टिकर्म्म में होने वाले पञ्चप्रयाजप्रयोग के) चौथे (शरद् ऋतुरूप बर्हिर्लक्षण) प्रयाज से देवदेवताओं ने निश्चय से यज्ञ (यज्ञातिशयरूप यशसम्पत्) प्राप्त कर लिया-(एवं चौथे प्रयाज से प्राप्त) उस (यज्ञ) को पांचवे (हेमन्त ऋतुरूप स्वाहात्मक) प्रयाज से मत्तिष्टित (?)-कर लिया। (इस प्रयाज कर्म्म के) अनन्तर होने वाला आज्यभागादिरूप सा यज्ञ का शेष (हविकर्त्तव्यता) बच रहा उस (के अनुष्ठान) से देवदेवता स्वर्गलोक को प्राप्त होगए ॥१०॥

प्रयाजकर्म्मातिरिक्त आज्यभागादि लक्षण शेष यज्ञानुष्ठान के बल से स्वर्ग लोक (की ओर) जाते हुए देवदेवतालोग (अन्तरिक्ष में अमूर्त्त–उभयत परि च्छिन्न रूप से विचरने वाले आप्यप्राणात्मक यज्ञविरोधी) असुर राक्षसों निरोध (संकल्प) से डर गए (उन्हें भय हुआ कि, ये पुन कहीं हमारे स्वर्गगमन

बाधा न खड़ी करें। इस भय से त्राण पाने के लिए) उन देवदेवताओं नें असुर राक्षसों को मारने वाले, एवं मार भगाने वाले अग्नि को (ही स्वर्गप्राप्तिसाधक-आप्यमागातिशय के) पूर्व में (पहिले) प्रतिष्ठित किया, उसी को मध्य में, उसी को अन्त में प्रतिष्ठित किया (अर्थात् आन्तरिक्ष्य असुराक्रमण से अपने स्वर्गसाधक यज्ञातिशय को निर्विघ्न स्वर्गप्राप्ति का हेतु बनाने के लिए इन्होंनें यज्ञातिशय के आदि-मध्य-अवसान, तीनों स्थानों में आग्नेयप्राणोद्रेक आग्नेयप्राण प्रतिष्ठित कर दिया)॥११॥

(देवदेवताओं के द्वारा त्रिस्थानों में नियुक्त अग्नि के प्रभाव से इन का स्वर्गगमन निर्विघ्नपूर्ण होगया। क्यों कि) यदि इन देवदेवताओं का उन असुर राक्षसों ने पूर्व की ओर से निरोध करना चाहा, विघ्न डालना चाहा, तो तत्रस्थ अग्नि ने तत्रस्थ असुरों को मार भगाया। यदि मध्य की ओर से निरोध करना चाहा तो तत्रस्थ अग्निने तत्रस्थ असुरों को मार भगाया। यदि पीछे की ओर से निरोध करना चाहा, तो तत्रस्थ अग्नि ने तत्रस्थ असुरों को मार भगाया। (इस प्रकार तीन स्थानों में रक्षक रूप से नियुक्त तीनों) अग्नियों से सर्वात्मना सुरक्षित रहते हुए देवदेवताओं नें निर्विघ्न स्वर्गलोक प्राप्त कर लिया॥१२॥

(प्राकृतिक यज्ञ में पृथिवी से द्युलोक की ओर जाते हुए पार्थिव प्राणदेवताओं के प्रयाजातिशय पर आन्तरिक्ष्य असुरों का आक्रमण होता रहता है। परन्तु त्रिःस्थान स्थित आग्नेयप्राण के सम्बन्ध से उन का वह आक्रमण व्यर्थ सिद्ध होजाता है। इसी प्राकृतिक यज्ञविधा के आधार पर सौमदेवताओंनें अपने वैधयज्ञ के पञ्चप्रयाजकर्म्म में-पांचवें प्रयाज में-उसी प्राकृतिक अग्नित्रयी सम्पत्-की प्राप्ति के लिए तीन विशेषाग्निकर्म्मों का समावेश किया था, तद्द्वारा अपने दैवात्मस्वरूप में वे निरापद स्वर्ग पहुँचने में समर्थ हुए थे। उसी सौमदेवतानुगता यज्ञविधा के आधारपर इस यजमान का यह वैध इष्टिकर्म्म विहित हुआ है। इसे भी अपने दैवात्माकर्षण द्वारा स्वर्ग में जाना है। उस समय आन्तरिक्ष्य असुरराक्षसों का आक्रमण जहां अनिवार्य है, वहां इस आक्रमण को रोकना भी आवश्यक है। उसी आक्रमण-निरास के लिए, निरापद स्वर्गावाप्ति के लिए सौमदेवानुगम यजमान अपने इस यज्ञ में भी पांचवें प्रयाज कर्म्म के-आदि-मध्य-अवसान में विशेषाग्नित्रयी का यजन करता है। इस यजन से रक्षक-अग्नित्रयी का अनुग्रह प्राप्त होजाता है। फलस्वरूप यह भी देववत् निरापदरूप से स्वर्गफलभोक्ता बन जाता है। पांचवें प्रयाज के आदि-

मध्य-अवसान-में अग्नित्रयी का यजन क्यों किया जाता है ?, विप्रतिपत्ति का यही समाधान है, जिस का श्रुति के अक्षरों में यों विश्लेषण हुआ है)—

(जिसप्रकार प्राकृतिक नित्य यज्ञ में अग्नित्रयी का सहयोग होता है, तदनु जिसप्रकार सौम्य मनुष्य देवताओं में अपने चतुर्थ प्रयाज समाप्त्यनन्तर पांचवें प्रयाज के आदि-मध्य-अवसान में अग्नित्रयी का यजन किया था, तद्द्वारा निरापद रूप से स्वर्ग प्राप्त किया था,) ठीक इसी प्रकार (तथोऽएव) यह यजमान भी अपने इस चौथे प्रयाज से (तो स्वर्गसाधक) यज्ञ प्राप्त करता है, उसे पांचवें प्रयाज से प्रतिष्ठित करता है, इस के अनन्तर जो आज्यभागादिरूप यज्ञ का शेष बच रहता है उस से स्वर्गलोक ही प्राप्त करता है ॥१३॥

सो जो कि (पञ्चम प्रयाज के आदि में-'स्वाहाग्निं'-रूप से यजमान प्रतिनिधिरूप) अध्वर्यु आग्नेय-आज्यभाग का यजन करता है, (इस से अपने स्वर्ग-प्राप्त हुए यज्ञातिशय के) पूर्वभाग की ओर से राक्षसों के मारने वाले, मार भगाने वाले अग्नि को ही (नियुक्त) करता है। (आग्नेय-आज्यभाग के) अनन्तर (इसी पञ्चम प्रयाज कर्म्म के मध्य में) जो (उभयभाग्युत प्रधान अग्नि के लिए) जो आग्नेय पुरोडाश (का भागहर) बन जाता है (उस का 'स्वाहाग्निम्' रूप से यजन करता है) । इस कर्म्म से (इस यज्ञातिशय के) मध्यभाग की ओर से ही अग्नि को नियत करता है। (मध्यम अग्नि यजन के) अनन्तर जो कि अध्वर्यु (प्रजा बान्त में—'स्वाहाग्नि होत्रा जुषाण' इत्यादि रूप से) स्विष्टकृत्-अग्नि का यजन (स्वष्टकृद्याग) करता है, इस कर्म्म से (इस यज्ञातिशय के) पश्चिमभाग की ओर से ही अग्नि को नियुक्त करता है, (जो कि) अग्नि 'रक्षोहा'—(राक्षसों को निर्जीव बनाने वाला, मारने वाला) एवं 'रक्षसामपहन्ता' (राक्षसों को मार भगाने वाला, यज्ञमर्यादासीमा से बहिष्कृत करने वाला) है ॥१४॥

(प्रयाजकर्म्म से स्वर्गलोक की ओर जाते हुए) इस यजमान के (स्वर्गसाधक) यज्ञातिशय के पूर्वभाग से यदि असुर राक्षस आक्रमण करते हैं, तो तत्रस्थ रक्षोहा रक्षसामपहन्ता अग्नि तत्रस्थ उन असुर राक्षसों को मार भगाते हैं। यदि मध्य भाग से आक्रमण करते हैं, तत्रस्थ अग्नि राक्षसों को मार भगाते हैं। यदि पश्चिमभाग से आक्रमण करते हैं, तो तत्रस्थ अग्नि राक्षसों को मार भगाते हैं। इस प्रकार यह (यज्ञातिशयरूप-स्वर्गसाधक) देवात्मा तीनों अग्नियों से चहुँ ओर

से सुरक्षित-निरापद बनता हुआ स्वर्गलोक प्राप्त कर लेता है।—(प्राप्त करने में समर्थ होजाता है) ॥१२॥

* * * * *

इति—प्रयाजानामिष्टौ प्रायम्यम्

——६——

७-अभिचार (कृत्याप्रयोग)

(प्रयाज कर्म्म के द्वारा यज्ञातिशय उत्पन्न भी आज ही हो जायगा, वह सात-शत स्वर्गस्थान में भी आज ही प्रतिष्ठित हो जायगा। परन्तु यज्ञकर्ता यजमान का या मानुषात्मा-भूतात्मा, जो स्वर्गगत यज्ञातिशयरूप दैवात्माकर्षण से आकर्षित है—अपने ऐहलौकिक प्रारब्धकर्म्मभोगानन्तर (जिस प्रारब्ध कर्म्म से इस वर्त्तमान शरीर मिला है) ही (मृत्यु के अनन्तर ही) दैवात्माकर्षणद्वारा स्वर्गफल का भोक्ता बनेगा, स्वर्ग पहुँचेगा। इसी लिए तो स्वर्गफल आमुष्मिक-(पारलौकिक) माना गया है, अतएव तो यह 'अदृष्टफल' (परोक्षफल) कहलाया है। त्रिब्राह्मणात्मक प्रयाजब्राह्मण से पहिले प्रतिपादित 'सृगुब्राह्मण' के आश्रावण-प्रत्याश्रावण कर्म्म-विधान में यह स्पष्ट किया जाचुका है कि, मानवीय मन परोक्षफलापेक्षया ऐहिक प्रत्यक्ष फलों की ओर विशेषरूप से आकर्षित रहता है-(देखिए-पृ० सं० १२४, सृष्टिविज्ञान प्रकरण)। अवश्य ही मङ्गल अग्निस्तप-यजन का भी परोक्ष-स्वर्गफलातिरिक्त कोई प्रत्यक्ष भी फल होना चाहिए। इस प्रत्यक्ष फल को तात्कालिक, कालान्तरभावी भेद से दो भागों में विभक्त किया जासकता है। भोजन किया, और तृप्ति होगई, यह ऐहलौकिक तात्कालिक फल माना जायगा। भोजन किया, भुक्त द्रव्य क्रमशः रस असृक्-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा-शुक्र-ओज-मनोरूप में परिणत हुआ। यही ऐहलौकिक कालान्तरभावी फल माना जायगा। ब्राह्मण की मकुरु १६, १७ १८ इन तीन कण्डिकाओं में तो तात्कालिक फल का विश्लेषण हुआ है, जिस कृत्याप्रकरण से अभिचारात्मक फल मानते हुए सात्त्विक कालान्तरभावी फल से इसमें पृथक कर दिया है, वही 'अभिचार' नामक ७वां प्रकरण है। एवं १६ वीं कण्डिका में कालान्तरभावी, अतएव स्थिर धर्म्मात्मक ऐहलौकिक फल का विश्लेषण हुआ है। अतएव तत्कण्डिकात्मक प्रकरण 'फलश्रुति' नामक ८ वाँ प्रकरण मान लिया है। इन दोनों ऐहलौकिक फलों में से सूचीकटाहन्यायेन पहिले अभिचार

त्मक–तात्कालिक–प्रथम ऐहलौकिक फल का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है)—

(जिस समय आज्यभागानुगत प्रथम अग्नि का यजन होरहा हो, और उस समय यदि कोई यजमान का शत्रु यजमान के प्रति निन्दाभाव प्रकट करे, अथवा तो कुछ मिथ्या वचन बोल पड़े, इसके अतिरिक्त यजमान को अपने किसी शत्रु के द्वारा पहिले से करे गए निन्दावचनों का प्रतिशोध लेना हो, तो उसे चाहिए कि वह उस शत्रु को लक्ष्य बनाकर उसके नामग्रहण पूर्वक—'मुख्यामार्त्तिमारिष्यसि,–अन्धो वा बधिरो वा भविष्यसि'—हे शत्रु तू मुख्य पीड़ा प्राप्त करेगा, या तो अन्धा हो जायगा, या बहिरा हो जायगा, यह वचन बोलदे। इसी प्रकार दूसरे, तीसरे अग्नियजन में भी यह अभिचारवाक्य द्वारा अपने शत्रु का अनिष्ट कर सकता है। इन्हीं तीनों अभिचारों का अपने शब्दों में दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है)

(इस प्रयाजकर्म्म में) यदि इस (यजमान) के प्रति वह (यजमानशत्रु, अथवा और कोई–ईर्ष्यालु–निन्दक) यज्ञारम्भ में (आज्यभागानुगत प्रथमाग्नि–यागकाल में) निन्दावचन का प्रयोग करे, तो (यजमान) उस (निन्दक) के प्रति (वह) बोले कि, तू मुख्य पीड़ा प्राप्त करेगा, अन्धा हो जायगा, अथवा तो बहिरा बन जायगा। वास्तव में (शारीरिक कष्टों में) ये ही (दोनों) मुख्य पीड़ा हैं। (यजमान के उक्त कथन मात्र से) वैसा ही अवश्य हो जायगा (निन्दक या तो अन्धा हो जायगा, अथवा बहिरा हो जायगा, यही प्रथम अभिचारात्मक तात्कालिक फल है) ॥१६॥

यदि इस के प्रति वह यज्ञमध्य में (उभयआज्यभागयुत द्वितीयाग्नियागकाल में) अनुचित कहै, तो (यजमान) उस के प्रति (यह) बोले कि, तू प्रजाशून्य, पशुशून्य हो जायगा। प्रजाएँ, और पशु निश्चयरूप से मध्य (रूप) हैं। (यजमान के उक्त कथन से) वैसा ही निश्चयेन हो जायगा (निन्दक की प्रजा पशुसम्पत्ति नष्ट हो जायगी। यही द्वितीय अभिचारात्मक तात्कालिक फल है) ॥१७॥

यदि इस के प्रति वह यज्ञान्त में (स्विष्टकृत अग्निरूप तृतीयाग्नियाग काल में) अनुचित कहै, तो (यजमान) उस के प्रति (यह) बोले कि, तू प्रतिष्ठा रहित, एवं निर्धन बनता हुआ शीघ्र ही उस (यम) लोक को प्राप्त होगा (मर जायगा)। (यजमान के ऐसा कहने से) वह (निन्दक) वैसा ही अवश्य हो जायगा (अप्रतिष्ठापूर्वक दरिद्री बनता हुआ शीघ्र मर जाए । यही तृतीय अभिचारात्मक तात

कालिक पक्ष माना जायगा। इस प्रकार आध्यात्मयाग, प्रधानयाग, स्विष्टकृद्याग, तीनों से सम्बन्ध रखने वाले प्रथम-मध्यम-अन्तिम-अग्नियों के यजन से शत्रुविनाशरूप इष्ट-प्रत्यक्ष-तात्कालिक-ऐहलौकिक फल भी प्राप्त किया जासकता है। श्रुति ने तात्कालिक फल तो बतला दिया। परन्तु वह यह नहीं चाहती कि, यज्ञरहस्य को न जानकर धर्मी मूर्ख करने वाले यज्ञ जन भी यों अपना नाश करालें। उन के कल्याण को लक्ष्य में रखते हुए उन को सावधान करती हुई श्रुति कहती है कि इन यज्ञरहस्यानभिज्ञों को यह ज्ञान रखना चाहिए कि, यज्ञ कोई सामान्य लौकिक कर्म नहीं है। अपितु यह प्राकृतिक समिद्ध उस प्राणाग्नि का अपनी प्रतिष्ठा बनाता है, जिस के प्रति साथ ही इस यज्ञाग्नियुक्त यजमान के प्रति ज्ञान-अनज्ञान में थोड़ी भी उपेक्षा, निन्दा, उपहास करने से सर्वनाश निश्चित है।) अतएव उन निन्दकों को चाहिए कि, वे भूलकर भी (हास परिहास में भी यज्ञ, तथा यज्ञानुष्ठानकर्त्ता) यजमान के प्रति अनुव्याहारी (अनुचित भाषण वाले) न बनें—'नानुव्याहारीव स्यात्'।

(अभिचार कर्म-कोई उत्तम कर्म्म नहीं है। लोकसंग्राहक, सर्वकल्याणकारक, अतएव श्रेष्ठतम यज्ञ जैसे सात्त्विक कर्म्म में अपने व्यक्तिगत द्वेष के बदले की भावना रखना भी यज्ञस्वरूप में तमोगुण का आधान करना है। अतएव उत्तम पक्ष तो यही है कि, यज्ञकर्ता भी इस अभिचार का अनुगमन न करे। रही बात-इस पक्ष की। इस सम्बन्ध में यही उत्तर पर्य्याप्त होगा कि, यज्ञकर्त्ता सामान्य मनुष्य मनुष्य नहीं है अपितु प्रजापति की साक्षात् प्रतिमा है। जिस प्रकार प्रकृति से विरुद्ध जाने वाला अपने ही पाप से दग्ध हो जाता है, तथैव यजमान से शत्रुता रखने वाले भी स्वतः एव महाविनाश ही पतित हो जाते हैं। मनसाभिध्यान अवश्य हो सकता है। परन्तु इसका अवश्य मिल जाता है। इत्थम्भवस्था की अनिवार्यता तो यही है कि जो यजमान से... है अपितु केवल इस रहस्य को जानता भर है यदि उस व्यक्ति के प्रति भी कोई शत्रुता रखता है तो वे भी नष्ट हो जाते हैं। ... भी इस फल को प्राप्त कर लेता है। फिर यजमान की तो बात ही क्या। यह ... रहना ही नहीं चाहिए। केवल उस पर सारा प्रकृति पर ही छोड़ देना चाहिए। यह निन्दकों के 'तस्मादु ह नानुव्याहारीव स्यात्' इस मानसिक अन्तर-भावाउन्नी-के साथ साथ यज्ञकर्त्ताओं के प्रति भी उन्हें सात्त्विक भावापन्न बने रहने के लिए अभिचारकर्मप्रवृत्ति से बचे रहने के लिए संकेत करती हुई श्रुति कहती है कि)—
(यज्ञकर्ता ही क्या) इस रहस्य को जानने वाला भी यदि (इत्थं शत्रुशमनकर्ता)

त्मक-तात्कालिक-प्रथम ऐहलौकिक फल का स्पष्टीकरण करती हुई
कहती है)—

(जिस समय आघ्यभागानुगत प्रथम अग्नि का यजन होरहा हो, और
समय यदि कोई यजमान का शत्रु यजमान के प्रति निन्दाभाव प्रकट करे, अ
तो कुछ निन्द्य वचन बोल पड़े, इसके अतिरिक्त यजमान को अपने किसी शत्रु
द्वारा पहिले से कहे गए निन्दावचनों का प्रतिशोध लेना हो, तो उसे चाहिए
वह उस शत्रु को लक्ष्य बनाकर उसके नामग्रहण पूर्वक—'मुख्मामार्तिमारिष्यसि
अन्धो वा बधिरो वा भविष्यसि'—हे शत्रु तू मुख्य पीड़ा प्राप्त करेगा, वा तो अ
हो जायगा, या बहिरा हो जायगा, यह वचन बोलदे। इसी प्रकार दूसरे, ती
अग्नियजन में भी यह अभिचारवाक्य द्वारा अपने शत्रु का अनिष्ट कर सकता।
इन्हीं तीनों अभिचारों का अपने शब्दों में दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है)

(इस प्रयाजकर्म्म में) यदि इस (यजमान) के प्रति वह (यजमानद्वे
अथवा और कोई-ईर्ष्यालु-निन्दक) यज्ञारम्भ में (आघ्यभागानुगत प्रथमाग्नि
याग काल में) निन्दावचन का प्रयोग करे, तो (यजमान) उस (निन्दक)
प्रति (यह) बोले कि, तू मुख्य पीड़ा प्राप्त करेगा, अन्धा हो जायगा, अथवा
बहिरा बन जायगा। वास्तव में (शारीरिक कष्टों में) ये ही (दोनों) मुख्य पीड़
हैं। (यजमान के उक्त कथन मात्र से) वैसा ही अवश्य हो जावगा (निन्दक
तो अन्धा हो जायगा, अथवा बहिरा हो जायगा, यही प्रथम अभिचारात्मक ता
कालिक फल है) ॥१६॥

यदि इस के प्रति वह यज्ञमध्य में (उभयत्राज्यपुत द्वितीयाग्नियागकाल में)
अनुचित कहे, तो (यजमान) उस के प्रति (यह) बोले कि, तू प्रजाशून्य, पशु
शून्य हो जायगा। प्रजाएँ, और पशु निश्चयरूप से मध्य (रूप) हैं। (यजमान
उक्त कथन से) वैसा ही निश्चयेन हो जायगा (निन्दक की प्रजा पशुसम्पत्ति न
हो जावगी। यही द्वितीय अभिचारात्मक तात्कालिक फल है) ॥१७॥

यदि इस के प्रति वह यज्ञान्त में (स्विष्टकृत् अग्निरूप तृतीयाग्नियाग काल
में) अनुचित कहे, तो (यजमान) उस के प्रति (यह) बोले कि, तू प्रतिष्ठा रहित
एवं निर्धन बनता हुआ शीघ्र ही उस (यम) लोक को प्राप्त होगा (मर जायगा)।
(यजमान के ऐसा कहने से) वह (निन्दक) वैसा ही अवश्य हो जावगा (अप-
यशपूर्वक दरिद्री बनता हुआ शीघ्र मर जाए यही तृतीय अभिचारात्मक तात्-

कालिक फल माना जायगा। इस प्रकार आज्यभागयाग, प्रधानयाग, स्विष्टकृयाग, मन्त्रों से सम्बन्ध रखने वाले प्रथम-मध्यम-अन्तिम-अग्नियों के यजन से शत्रुवि नाशरूप दृष्ट-प्रत्यक्ष-तात्कालिक-ऐहलौकिक फल भी प्राप्त किया जासकता है। श्रुति ने तात्कालिक फल तो बतला दिया। परन्तु वह यह नहीं चाहती कि, यजर हस्य को न जानकर मनुष्य मूर्खें करने वाले आज जन भी यों अपना नाश करालें। उन के कल्याण का लक्ष्य में रखते हुए उन को सावधान करती हुई श्रुति कहती है कि इन यज्ञरहस्यानभिज्ञों को यह ज्ञान होना चाहिए कि, यज्ञ कोई सामान्य लौकिक कर्म नहीं है। अपितु यह प्राकृतिक समिद्ध उस यज्ञाग्नि को अपनी प्रतिष्ठा बनाता है, जिस के प्रति साथ ही इस यज्ञाग्नियुक्त यजमान के प्रति ज्ञान-अनज्ञान में थोड़ी भी उपेक्षा, निन्दा, उपहास करने में सर्वनाश निश्चित है।) अतएव उन ऋत्विकों को चाहिए कि, वे भूलकर भी (हास परिहास में भी यज्ञ, तथा यज्ञानुष्ठानकर्त्ता) यजमान के प्रति अनुव्याहारी (अनुचित बोलने वाले) न बनें—'नानुव्याहारिव स्यात्'।

(अभिचार कर्म—कोई उत्तम कर्म नहीं है। लोकमर्यादाभञ्जक, सर्वकल्याण कारक, अतएव श्रेष्ठतम यज्ञ जैसे सात्त्विक कर्म में अपने व्यक्तिगत द्वेष के कारण की भावना रखना भी यज्ञस्वरूप में तमोगुण का आधान करना है। अतएव उत्तम पक्ष तो यही है कि यज्ञकर्त्ता भी इस अभिचार का अनुगमन न करे। रही बात-इस फल की। इस सम्बन्ध में यही उत्तर पर्याप्त होगा कि, यज्ञकर्त्ता सामान्य मनुष्य मनुष्य नहीं है, अपितु यज्ञरूप की साक्षात् प्रतिमा है। जिस प्रकार प्रकृति से विरुद्ध जाने वाला अपने ही पाप से दण्डित हो जाता है, तथैव यजमान से शत्रुता रखने वाले भी स्वतः एव प्रकृतिद्वारा ही दण्डित हो जाते हैं। समयान्तर में अवश्य हो सकता है। परन्तु दण्ड अवश्य मिल जाता है। दुरवस्था की अनिवार्यता तो ऐसी है कि जो यजमान नहीं है, अपितु केवल इस रहस्य का ज्ञाता मात्र है यदि उस केवल ज्ञाताविद् के प्रति भी कोई शत्रुता रखता है तो वे भी नष्ट हो जाते हैं। तद्वित् भी उस फल को प्राप्त कर लेता है। फिर यजमान का तो कहना ही क्या। अतएव उस यह सार प्रकृति पर ही छोड़ देना चाहिए। उन ऋत्विकों के 'तस्मादु ह नानुव्याहारिव स्यात्' इस सामयिक व्यापार-प्रतारणा-के साथ साथ यज्ञपरायणों के प्रति भी यहाँ सात्त्विक भावनाएँ बन रहने के लिए यह (अभिचारकर्मप्रवृत्ति से अपने रहने के लिए संकेत करती हुई श्रुति कहती है कि)—(यज्ञकर्त्ता ही क्या) इस रहस्य का ज्ञानरखने वाला भी यह (स्पृहणीय शत्रुपराभवकर्त्ता)

किंदेवत्य हैं ? (इन का कौनसा देवता है ?)—(प्रश्न हुआ ही क्यों, जब ऋतुदेवता पहिले से ही स्पष्ट किए जा चुके हैं, यह—प्रासङ्गिक प्रतिप्रश्न प्रश्न प्रश्न—और उपस्थित होता है। इस प्रतिप्रश्न का उत्तर यही होता है, जो श्रुति अभीष्ट है। यह ठीक है कि, आज्याहुति होती है ऋतुदेवताओं के लिए ही अतएव यह समझना भी अनुचित नहीं है कि, आज्य के देवता ऋतुदेवता। परन्तु यह समझना, केवल समझना ही है। आज्यग्रहणपद्धति में किसी भी देव के नाम का उल्लेख नहीं हुआ है। नामोल्लेख सम्भव भी कैसे हो, अर्थ प्रयाजकर्म का उद्देश्य ऋतुद्वारा सम्वत्सर प्रजापति से सम्बन्ध रखने वाला सम्वत्सरात्मिका स्वर्गसम्पत् है। यदि ऋतुओं का नाम लिया जाता है, समष्ट्यात्मक सम्वत्सर का ग्रहण नहीं होता। यदि सम्वत्सर का नाम लिया जाता है, तो ऋतुओं का व्यष्टिरूप से यजन नहीं होता। अपेक्षित यह कि—आज्यद्वारा ऋतुओं का भी यजन हो जाय साथ ही इसी कर्म से ऋतुसमष्टि रूप सम्वत्सरसम्पत्ति भी प्राप्त हो जाय। इस का उपाय है—आज्य—का ग्रहण उपांशुरूप से, बिना किसी देवता का नाम लिए एवं आज्याहुति हो ऋतुनामपूर्वक उपांशुग्रहण से आज्यद्वारा प्राजापत्य सम्पत्ति इसलिए मिल जायगी कि सम्वत्सर मयप्रकेन्द्र में प्रतिष्ठित प्रजापति अनिरुक्त है। अनिरुक्तभाव ही उपांशुभाव है इस उपांशुभावद्वारा तत्समतुलित अनिरुक्त प्राजापत्यसम्पत् प्राप्त हो जाती है यजनकर्मोपयुक्त याज्यामन्त्रों में—'समिधो अग्न आज्यस्य व्यन्तु' इत्यादि रूप ऋतुनामोच्चारणपूर्वक आहुति देने से उद्देश्यभूत ऋतुओं का यजन सफल हो जाता है। इसलिए आज्यग्रहण उपांशु रूप से है, एवं आज्याहुति नामपूर्विका ही विहित हुई है। बिना नाम ग्रहण के चुपचाप जुहूपभृत में आज्यग्रहण करना ही इस प्रश्न का भी समाधान बन रहा है कि आज्य का देवता कौन है किस देवता के उद्देश्य से आज्यग्रहण हुआ है ?—साथ ही यही नामग्रहणाभावात्मक तूष्णींभाव अनिरुक्तभाव—इस प्रश्न का उत्तर भी दे रहा है कि, यह आज्य प्राजापतिदेवताक है। इसी स्थिति का संकेतविधा से स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कह रही है)—(ये आज्य) प्राजापत्य हैं यही कहना चाहिए। अर्थात् आज्य कि देवत्य हैं ? प्रश्न का 'प्राजापत्य हैं' यही उत्तर हो सकता है)। क्योंकि प्रजापति निरुक्त अनिरुक्त है। उधर आज्य भी (तत्सनातिरिक्तयाज्यविरोध ...ति गृह्णाति अत एव) अनिरुक्त ही हैं— 'अनिरुक्तो हि प्रजापतिः' अनिरुक्तान्याज्यानि ।

---

*— अथ यान्याज्यानि गृह्णाति—ऋतुभ्यस्तेन तानि, उपांशुना गृह्णाति तस्मात् तान्यनिरुक्तानि ...ति गृह्णाति (शत० १ प्र० । ५ प्र० । ७ कण्डिका)।

(आज्य प्राजापत्य हैं एतावता ही ये-इसकी आहुति-यजमान के स्वर्गप्राप्ति के साधक कैसे बन गए ?, यह प्रश्न उपस्थित होता है। इसी का समाधान करती हुई श्रुति कहती है)—(अपने अभिव्यक्तिभाव से प्राजापत्य बने हुए) ये ये आज्य यजमानदेवत्य ही हैं। (अर्थात् यज्ञकर्त्ता यजमान भी 'प्रजापति' सम्बन्ध से इन आज्यों का देवता बन जाता है। क्योंकि, जैसे सम्वत्सरयज्ञमयज्ञ का अधिष्ठाता नम्यभाव (हृदयस्थ-सम्वत्सरयज्ञापेक्षया प्रजापति है। एवमेव) यह यजमान भी नियमेन अपने इस यज्ञ में (स्वयज्ञापेक्षया उसका प्रवर्तक बनने से) प्रजापति है। (जिस प्रकार सम्वत्सर प्रजापति की इच्छाकामना से अग्नि-वाय्वादित्यादि ऋत्विक् प्राकृतिक नित्य यज्ञ का वितान करते हैं, एवमेव इस यज्ञ में भी इस यजमान से युक्त (प्रेरित) होकर ही होता-अध्वर्यु आदि ऋत्विक्-(मन्त्र-शास्त्र-स्तोत्रादि स्वकर्म्मों के द्वारा) यज्ञ वितत करते हैं, (इस वितान से यजमान के) यश (दैवात्मा) को उत्पन्न करते हैं। (इसप्रकार जिन प्रेरणाओं धर्म्मों से यह अपने यज्ञ में प्रजापति बन रहा है, उन प्रेरणा-धर्म्मों का प्रवर्तक बनता हुआ यजमान भी अपने यज्ञ में अवश्य ही प्रजापति माना जा सकता है। एवं इसीलिए प्राजापत्य आज्यों को यजमानदेवत्य माना जा सकता है)॥ २० ॥

(प्राजापत्य आज्य क्यों यजमान के स्वर्गगमन का कारण बन जाता है ?, प्रश्न का परोक्षरूप से यद्यपि पूर्वकण्डिका से समाधान हो जाता है। तथापि, जैसा चाहिए, वैसा स्पष्टीकरण अभी नहीं हुआ। इसी यत्किञ्चित्-अस्वारस्य का स्पष्टीकरण करती हुई परस्पंश-प्रदर्शन पूर्वक समाधान करती हुई श्रुति कहती है)—वह अध्वर्यु आज्य का उपस्तरण कर (पुरोडाशस्थापनप्रदेश को आज्य से पहिले आज्य से युक्त कर, अनन्तर नियत) हवि के दो अवदान कर (आस्तृत आज्य पर हविरवदान रख, अनन्तर पुनः ऊपर से उस [illegible]) हवि पर आज्याभिघार करता है (ऊपर से घृत डालता है)। (इस प्रकार उभयतः आज्यसम्बन्ध से युक्त) यह आहुति आज्य से (सर्वात्मना-नीचे ऊपर दोनों ओर से) संश्लिष्ट होकर (मिलकर ही) अध्वर्यु के द्वारा (आहवनीयाग्निक समिद्ध-प्रज्वलित-प्रदेश-में) आहुत होती है (यह है आज्याहुति का स्वरूप जिसमें दोनों ओर से आज्य का सम्बन्ध हो रहा है)।

•द्रष्टव्य ब्रह्म-विज्ञान-विभाग

अनेक त्रुटियाँ करता है (करे), परन्तु निरपेक्ष (त्रुटि करता हुआ भी) वह मर्यादा से बाहिर नहीं जाता, जो कि भाष्य के इस प्राम्नायपरत्वानुरत स्वस्वरूप से बाधक है ॥ २१ ॥

इति-परिशिष्टप्रश्नोत्तरविमर्शः

—— ६ ——

छठे अध्याय में पहिला, चौथे प्रपाठक में छठा ब्राह्मण

(१ । ६ । १ ।)—(१ । ४ । ६ ।)

चतुर्थप्रपाठक समाप्त

* विज्ञानघनात्मक प्रश्नब्राह्मण में क्रमप्राप्त तृतीय ब्राह्मण समाप्त

३

—— • ——

(मूलानुवाद समाप्त—ग)

विज्ञानघनात्मक 'प्रश्नब्राह्मण ग्रन्थ' समाप्त

क्रमप्राप्त— —२३—२४ ब्राह्मण समाप्त

ओं तत्सद्ब्रह्मणे नमः

—— • ——

अध्वर्यु के द्वारा आज्यमिव आहुत, यजमानमिमिवा बन कर ही (अग्नि में) आहुत होती है। (तात्पर्य यही हुआ कि, आज्याहुति प्राजापत्या बनती हुई स्वर्गाधिष्ठाता प्रजापति से युक्त होती है। आज्य यजमानात्मक है, यजमान का प्राण आज्य में समाविष्ट है साथ ही यजमान अपने यज्ञ की अपेक्षा से प्रजापति भी है। आज्य एक प्रकार से यजमानात्मा है। इस प्रकार आज्य परम्परया यजमानात्मा भी प्रजापति से युक्त होता हुआ स्वर्गप्राप्ति का अनुगामी बन जाता है। और आज्याहुति के द्वारा कैसे यजमान स्वर्ग पहुँच जाता है? किंवा आज्याहुति कैसे स्वर्ग प्रापिका बन जाती है?, किंवा प्रयाज जैसे करणभूत-अङ्ग कर्म्मों से स्वर्गप्राप्ति कैसे सम्भव है?, इत्यादि परिशिष्ट प्रश्नों का सम्भवतः विमर्श हो जाता है)।

(अब इसी आज्याहुति के सम्बन्ध में एक प्रासङ्गिक फल बतलाकर श्रुति इस प्रयाजप्रकरण को समाप्त कर रही है। आज्य साक्षात् यजमान है। आज्य का हवि के साथ युक्त हो जाना यजमान का हवि के साथ, किंवा यज्ञ के साथ युक्त हो जाना है। अतएव इस अपने आज्य स्वरूपानुगत प्राजापत्यस्वरूप को जानने वाले यजमान के लिए यह आवश्यक नहीं होता कि, वह आहुतिकाल में ऋत्विजों के पास खड़े ही रहें। क्योंकि आज्यसान्निध्य से ही यजमानसान्निध्य यथार्थ बन रहा है। इसके अतिरिक्त यदि यज्ञवेला यजमान से स्वाभाविक मानुषभाव द्वारा कोई असत्कर्म्म भी हो जाता है, तो भी वह यज्ञसीमा से बाहिर नहीं होता। क्योंकि अपने आज्यरूप से उसकी यज्ञसीमानुगति अक्षुण्ण है। इसी भाव का-प्रासङ्गिक फल का-अपने शब्दों में अभिनय करती हुई श्रुति कहती है)—

यदि उस यजमान के दूर चले जाने पर ऋत्विक् यजन करता है, अथवा समीप रहने पर यजन करता है, करे, कोई अन्तर नहीं होता, कोई हानि नहीं होती। अपितु जिस प्रकार यजमान के समीप रहने पर (सान्निध्य से-ऋत्विक् के द्वारा यजमान के लिए यज्ञ कर्म्म) इष्ट-इष्टजनक-सफल-बनता है, यथैव एवं-वित्-(आज्यरहस्यवित्) उस यजमान के विदूर रहने पर भी ऋत्विक्-द्वारा हुत वह यज्ञ इष्ट ही बन जाता है। साथ ही भले ही वह (स्वाभाविक मानुषदोषवश)

युक्ति-तर्क-आर्षप्रमाण-से युक्त, ज्ञान-विज्ञान-समन्वित

प्राच्यसाहित्य का अपूर्व कोष

'न्यू एशियाटिक वैदिक रिसर्च सोसायटी' के तत्त्वावधान में प्रकाशित

ग्रन्थ-सूची ।

ले॰ वेदवीथीपथिक, मोतीलालशर्म्मा भारद्वाज

१—गीताविज्ञानभाष्यभूमिका १ खण्ड (बहिरङ्गपरीक्षात्मक)	७)
२— " " खण्ड 'क' (आत्मपरीक्षात्मक)	५)
३— " " " 'ख' (ब्रह्मकर्म्मपरीक्षात्मक)	५)
४— " " " 'ग' (कर्म्मयोगपरीक्षात्मक)	५)
५—शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्य ४ वर्ष (त्रैमासिक ४ अङ्क)	७)
६— " ५ वर्ष (")	५)
७—शतपथभाष्यत्रैवार्षिकविषयसूची	१)
८—उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका १ खण्ड	७)
९—माण्डूक्योपनिषद्विज्ञानभाष्य	१)
१०—ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य १ खण्ड	७)
११— " " खण्ड	५)
१२—हमारी समस्या (सामयिक निबन्ध)	।।।)
१३—भारतीय हिन्दू मानव और उस की भावुकता (सा नि)	१।)
१४—गम्य धर्म्मभेद (संस्कृतनिबन्ध)	।।)
१५—मानवाश्रम पाक्षिक (२४ अङ्क, आर्षलेखों का अपूर्वसंग्रह)	६)
१६ श्राद्धविज्ञानप्रस्तावना (राजस्थानमुद्रणालय श्रा वि का परिचय)	१)

— ८ —

प्रकाश्यमान —

श्राद्धविज्ञान-'आत्मविज्ञानोपनिषत्' नामक प्रथम खण्ड

३ विरङ्गे वैज्ञानिक चित्रों से युक्त—मूल्य १५)